प्रकाशक—
श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक सं
सैलाना (मध्य-प्रदेश

न्योछावर १) बुक पोष्ट खर्च ।=)

प्रथमावृत्ति १०००
वीर संवत २४८३ विक्रम संवत् २०१३

प्रकाशकीय

उत्तराध्ययन सूत्र का अनुवाद निकलने के बाद उसी ढंग से सूत्रकृतांग का प्रकाशन करने का हमारी स्वाध्यायी मंडली में निश्चय हुआ। उस समय कविवर श्री सूर्य मुनिजी म० का चातुर्मास भी यहां हो रहा था। कविवर के नवदीक्षित शिष्य आत्मार्थी श्री उमेशमुनिजी महाराज की ओर हमारी दृष्टि गई। दीक्षा पर्याय कुछ महीनों की होते हुए भी आपकी ज्ञानचेतना कुछ विशेष आकर्षक लगी। वैसे आप साहित्य रत्न भी हैं, किंतु आजकल के अन्य साहित्यरत्नों से एकदम निराले। आपकी ज्ञानाराधना दीक्षित होने के पूर्व ही विकसित हो चुकी थी। संयमाराधना में आप की बराबरी शायद ही कोई साहित्यरत्न मुनि कर सकें। आजकल के विद्वान मुनियों की करतूतों से जहां संसार साधना होती है, वहां श्री उमेश मुनिजी की सारी चर्या संयम साधना से ओतप्रोत रहती है।

हमने मुनिश्री से निवेदन किया कि 'इस चातुर्मास की यादगार में आप सूत्रकृतांग का अनुवाद करदें, तो स्वाध्याय प्रेमियों के लिए एक उत्तम आलम्बन बन जाय।' मुनिराजश्री ने हमारी विनती स्वीकार की और इस कार्य में जुट गये। अनुवाद करते समय आपके सामने अन्य कई कठिन समस्याएँ उपस्थित हुईं, किन्तु अपनी कुशाग्र बुद्धि से और टीकादि के सहारे से हल करते हुए इस कार्य को पूर्ण कर डाला। छपाई का काम भी साथ ही शुरू होगया और आशा थी कि चातुर्मास

की पूर्णाहुति के साथ ही यह सूत्र प्रकाश में आजायगा, किन्तु ऐसा नहीं होसका और मुनिवरों के विहार के बाद तो बहुत ही पोलपट्टी रही। वैसे मेरी बिमारी भी इसमें कुछ निमित्त भूत बनी, किन्तु अधिकांश प्रेस की व्यवस्था उचित प्रकार की नहीं होने से ही इतना विलंब हुआ और स्वाध्याय प्रेमीजन प्रतीक्षा करते करते थक गये। सं० २०११ की कार्तिक पूर्णिमा को पूर्ण होने वाला कार्य, आज लगभग ढाई वर्ष बाद प्रकाश में आ रहा है। इतना विलम्ब वास्तव में बहुत बड़ी पोल कही जाती है, किन्तु क्या किया जाय, सिवाय क्षमायाचना के और हो ही क्या सकता है।

मुनिश्री तो अनुवाद हमारे सुपूर्द करके भूल ही गये, जैसे इससे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं हो। वास्तव में ऐसा ही होना चाहिये। असंगता और सम परिणामों का मुनिवरों में होना आवश्यक है। प्रसिद्धि की कामना और तालावेली जहां हो, वहां आत्मार्थिपन की खामी होती है।

हमारी दृष्टि से यह अनुवाद अच्छा हुआ है। उत्त-राध्ययन के हमारे अनुवाद से तो बहुत ही उत्तम है। संक्षिप्त होते हुए भी स्वाध्याय प्रेमियों को टीका या विस्तृत अर्थ वाली प्रति देखने की आवश्यकता बहुत कम पड़ेगी।

श्री आचारांग सूत्र आचार शुद्धि का साधन है, तो सूयगडांग सूत्र विचार शुद्धि का मुख्य कारण है। मिथ्यात्व से बचकर सम्यग्दृष्टि प्राप्त करने की इससे सहायता मिलती है।

सूयगडांग का परिचय देते हुए गणधर भगवान ने समवायांग में में बताया कि —

"कुसमयमोहमोहमइमोहियाणं संदेहजाय सहजबुद्धि—
परिणामसंसइयाणं पावकरमलिनमइगुणविसोहणत्थं।"

अर्थात—कुसमय रूपी मोह से जिनकी मति मोहित हो गई है और पाप से जिनकी बुद्धि मलीन हो गई है, उनकी विशुद्धि के लिये सूयगडांग-सूत्र है। यह आगम ज्ञान दर्शन और चारित्र में दृढ़ता लाने वाला है।

इस पुस्तक का सम्पूर्ण खर्चा यहां के एक ही स्वाध्याय प्रेमी धर्म बन्धु ने दिया है। हम उनकी एकान्त मनाई से बाध्य होकर पाठकों को उनका परिचय नहीं दे रहे हैं। उत्तराध्ययन के प्रकाशन में भी हमें उनकी ओर से बहुत सहायता मिली थी।

उत्तराध्ययन की ५०० से भी अधिक प्रतियां अमूल्य दी गई। और द्रव्य सहायक बन्धु की ओर से यह सूत्र भी अमूल्य ही है, लेकिन मेरे निवेदन पर उन्होंने इसके सारे अधिकार अ० भा० साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ को प्रदान कर दिये हैं। संघ सम्यग्ज्ञान के प्रचार का कार्य सतत चालू रखना चाहता है। इसमें द्रव्य खर्च तो होगा ही, इसलिये स्वल्प मूल्य रखना आवश्यक हो जाता है, दूसरा अमूल्य पुस्तक का दुरुपयोग भी होना सम्भव है। इसलिये ज्ञान प्रचार के लिये स्वल्प मूल्य १) रक्खा गया है। बुक पोष्ट चार्ज के छे आने, इस

प्रकार एक रुपया छे आने प्राप्त होने पर प्रति भेजी जा सकेगी। सूत्र प्राप्त करने के इच्छुक बन्धु हमें वी० पी० करने के झंझट से बचावें।

हमारे सामने अभी निम्न प्रकाशनों का कार्य उपस्थित है।

१ श्री उत्तराध्ययन सूत्र की दूसरी शुद्ध आवृत्ति छप रही है। और लगभग आधी छप चुकी है। २ दशवैकालिक सूत्र। ३ नन्दी सूत्र। ४ अंतकृद्दशांग सूत्र। ५ अणगार धर्म। ६ श्रावक धर्म। ७ जैन धर्म। इसके अतिरिक्त अन्य धार्मिक साहित्य भी प्रकाशित होता रहेगा।

रतनलाल डोशी

प्रधान मन्त्री—श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन

संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (मध्य-प्रदेश)



सूत्र कृत (ज्ञान क्रिया)

जिनमुख-निःसृत अर्थ विशाल।
सूत्रकार हैं गण-रखवाल ॥
शिव-खोजी का मग-अवलम्ब।
है अङ्ग द्वितीय जोति-थम्ब ॥

मंगल ज्ञान-क्रिया का सार।
सूत्रीकृत मत-अंग उदार ॥
गणित-कर्तृ आचार-विचार।
समकर जीवन-मरण-झंकार ॥

मानस में कर हंस ! विहार।
जगती के सब द्वन्द विसार ॥
कर ले ज्ञान-क्रिया इकसार।
डुबकी ज्ञान क्रिया में मार।



निवेदन

इसवर्ष मेरे गुरु भ्राता व्याख्यानी श्री माणकमुनिजी म० की अस्वस्थता के कारण वर्षावास थान्दला में ही बिताने का हमारा निश्चय था। परन्तु चातुर्मास के कुछ दिन पहले ही आप श्री का स्वर्गवास हो गया और इधर सैलाने श्री संघ का आग्रह होने से गुरुदेव को सैलाने वर्षावास बिताने की स्वीकृति देनी पड़ी। पर थान्दला श्रीसंघने हठ पकड़ली, कि हम विहार नहीं करने देंगे। दोनों स्थानों के संघ आपस में रस्साकसी करने लगे। जैसे-तैसे थान्दला संघ को समझाकर वहाँ से विहार किया, पर रास्ते में बरसात अधिक हो गई और गुरुदेव का स्वास्थ्य भी बिगड़ गया। यहाँ तक कि सैलाना श्रीसंघ एकबारगी बिलकुल निराश हो गया। पर आशा निराशा की लहरों पर डोलती हुई नैया किसी तरह किनारे लगी और वर्षावास के लिये हमारा सैलाने में प्रवेश हुआ— वर्षारंभ हुआ।

श्रीमान रतनलालजी डोसी आदि सैलाने के प्रमुख व्यक्तियों का आग्रह हुआ कि यहाँ के वर्षावास के स्मृति-स्वरूप किसी ग्रन्थ का सम्पादन हो जाय। पहले कभी ऐसा कार्य किया नहीं, न इतनी शक्ति है कि किसी ग्रन्थ का सम्पादन कर सकूँ या अनुवाद कर सकूँ। बहुत आनाकानी की। परन्तु उनकी प्रेरणा ही बलवती रही। डरते डरते उनके निर्देश के अनुसार 'सूयगडाङ्गसूत्र' के अनुवाद का काम हाथ में लिया

और आज लगभग चार महिने बाद यह कार्य यथातथा पूरा हुआ।

यह अनुवाद स्वाध्याय करने वालों के लक्ष्य से किया गया है। पहले श्रुतस्कन्ध में जहाँ योग्य लगा वहाँ टिप्पणियाँ भी दी है, जिससे स्वाध्यायियों की जिज्ञासा अधिक जागृत होकर, उनकी अधिक ज्ञानआराधना के लिये प्रवृत्ति हो। दूसरे श्रुतस्कन्ध में टिप्पणियाँ नहीं दी है–समय की अल्पता से।

'मूलपाठ' श्रीमज्जवाहिराचार्यजी म० के तत्त्वावधान में पं० अम्बिकादत्तजी ओझा द्वारा सम्पादित 'श्रीसूत्रकृताङ्गम्' के अनुसार रखने का प्रयास किया है और इसमें, 'धनपत-सिंहजी' बहादुर के द्वारा प्रकाशित प्रति का एवं पं० श्री पुप्फभिक्खु' जी द्वारा सम्पादित 'सुत्तागमे' के 'सूयगडे' का भी कहीं कहीं आश्रय लिया गया है। अर्थ-निर्णय में टीका और गो० जी० पटेल द्वारा सम्पादित 'महावीर स्वामी नो संयम धर्म' से भी सहायता ली गई है। अतः तत् तत् व्यक्तियों का आभार मानना योग्य ही है।

सब से बड़ा अनुग्रह तो गुरुदेव का है। उनकी कृपा से ही मैं यह कार्य पूरा कर सका और मेरे दोनों बड़े गुरुभ्राता श्रीमान सुरेन्द्र मुनिजी म० और श्रीमान रूपेन्द्रमुनिजी म० को भी नहीं भुला सकता, जिन्होंने मेरी दैनिक साधु-चर्या में सहयोग देकर, यह कार्य पूरा करने में मदद पहुँचाई। स्थानीय श्रीसंघ और प्रकाशक महोदय भी धन्यवाद के पात्र

है, जिनकी प्रेरणा से मैं अनुवाद करने के लिये प्रवृत्त हुआ।

मेरा यह पहला ही कार्य है-अतः संभव है अनुवाद में त्रुटियाँ भी रही होंगी। अल्प शक्ति होने के कारण ऐसा होना असम्भव नहीं है और छद्मस्थ अवस्था है ही। इसलिए भूल-चूक के लिये 'मिच्छामि दुक्कडं' देने के साथ ही यह कामना करता हूँ-यह ज्ञान--आराधना स्व-पर के लिये श्रेय-स्कर हो।

श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय
सैलाना (मध्य-प्रदेश)
मार्गशीर्ष कृष्ण १०, सं०२०११

—अणुमुनि जैन



शुद्धि-पत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२१	विउक्कमे	विउक्कम्म
४	१२	देहिणं	देहिणो
६	११	वत्त्व	तत्त्व
११	१२	आगा	आगार
१२	९	ण	णं
२०	२३	जहां	जहा
२१	६	जाता	जाना
,,	१४	अन्न	अन्नं
३४	१७	कोई	केइ
३५	२	दुक्खय	दुक्खाय
,,	१३	संततं	सततं
४१	१५	७वीं	९वीं
,,	२३	ठहरा	ठहरा
४२	१२	णं	ण
४५	११	जो	जे
४८	१	धरस्स	घरस्स
,,	९	हिसासिया	हियासिया
५०	८	वाले	घाले
५१	१५	धम्मा	धम्म
५५	२०	अवेळ	अवले

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५५	२१	बहई	वहइ
५६	१३	वहु	महुं
,,	१४	तरुण एवा	तरुणए वा
६५	६	समायरे	समायारे
,,	११	चारोत्ति	चोरो त्ति
,,	२०	करता है	करते हैं
६७	१०	खुड्डाया	खुड्डया
,,	२०	गंतु	गतुं
,,	२१	परिक्कमं	परिक्कम्मं
७१	३	भिक्खा	भिक्ख
७३	२०	संमाहिए	समाहिए
८०	१९	बंधण मुक्का	बंधणुंमुक्का
८२	२३	पवेदित	पवेदितं
८४	१५	मणुव्वजे	मणुव्वज्जे
८५	२	पसाणि	पासाणि
८८	९	सेज्जओ	सेज्जाओ
९०	१८	बिरता	विरता
९४	७	रजोहरणं	रओहरणं च
९५	१	सिहलिपासग	सिहलिपासगं
९८	१०	सुवि सुद्ध	सुविसुद्ध
१००	१	चेताना	चेतना

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०३	८	तिठ्ठे	तिठ्ठ
१०४	१५	और तीव्र	और न तीव्र
१०७	२	पोरसिया	पोरुसिया
११३	८	सरोषं	सरोसं
,,	९	रूहिरं	रुहिरं
११५	४	वणन	वर्णन
,,	१३	(एङ्कतदिट्टी)	(एगंतदिट्टी)
१२०	१०	अकासाइ	अकसाइ
१२६	६	संयभू	सयंभू
,,	१५	वेणुदेवो	वेणुदेवे
१२७	१०	बंभचरे	बंभचेरं
१२९	१६	पदोव सुद्धं	पदोवसुद्धं
१३२	१३	अगणि	अगणिं
१३४	१३	अणासएणं	अणासणेणं
१३७	१६	जिविज्ज	जीविज्ज
१४३	११	एग	एगे
१४७	११	सअंगाई	सअंगाइं
१५०	१३	वीतगिद्धि	वीतगिद्धी
१५३	४	सख	सुख
१५४	१८	जावे	जाने
१५५	१४	बत्थीकम्मं	वत्थीकम्मं

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५७	१	पसिणाय तणाणि	पसिणायतणाणि
१६७	२	अनाक्सत	अनासक्त
१७३	४	तरत्ति	तरति
१७४	१७	हिंस या	हिंसया
१७५	२२	वज्जयंत्ते	वज्जयंते
१७७	५	जेसि	जेसिं
१७९	१९	अखे यन्ना	अखेयन्ना
१८३	१४	के वलिणो	केवलिणो
१८४	९	सो तस्स	तस्स
१८८	८	अह्म	अम्ह
१९९	१८	सलोग	सिलोग
२०५	१७	छेय	छेय से
२०७	९	वियागरिंते	वियागरिं ते
२०८	७	प्रभावति	प्रभावित
२११	५	परिवएज्जा	परिव्वएज्जा
,,	११	सं सोयकारी	तं सोयकारी
२१२	१९	विरोध	निरोध
२१४	८	विभज्जवाय	विभज्जवाय
,,	१०	में रहित	में शंका रहित
२१५	२	लम्बा	लम्बाएँ

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१७	७	पडूपन्नं	पडूप्पन्न
२२०	२	संमुद्दी भूता	संमूढीभूता
,,	८	आरण	आरथ
,,	२०	कणइ	केणइ
२२१	१७	सुय	सुयं
२२३	८	ववत्तगं	पवत्तगं
,,	२०	प्रकार को	प्रकार के कर्म को
२२४	४	विसुव्वया	वि सुव्वया
२३२	११	मंगाविऊ-मगास्स	णो मंगाविऊ- णो मगास्स
२३४	३	पढम	पडम
३३५	४	अहवारे	अहावरे
२३६	१३	तिरट्टी	तीरट्टी
,,	१७	तीसेतीरे	तीसेपुक्खरिणिए तीरे
२४०	१३	निहिय	निहय
२४०	१५	पास	पसा
२४१	४	पायत्तला	पायतला
,,	१४	छलियंसि	छलंसिए
,,	१८	कक्खिवेड	कक्खवेड
२४२	६	अयं	×

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४३	३	उहह	उड्ड
२४३	४	सहसक्का०	सहसाक्का
२४४	२	आन्नइं	अन्नाइं
२४६	५	ब्राह्मपुत्र	ब्राह्मणपुत्र
२४७	१४	मुञ्ज	मुंज
२४८	११	युक्त	युक्ति
२४९	१३	।१०।	×
२५०	६	॥११॥	×
२५२	२१	तेसिंच	तेसिं च णं
२५६	६	कामं	कामं तं
,,	११	खले	खलु
२५९	५	नीचा	नीया
२६५	११	मेद	भेद
२७०	५	अदुःख	अदुक्ख
२७१	७	उव संते	उवसंते
२७२	१२	लाया है	लाया है, ऐसा
,,	२०	पायए—	पायरा—
२७३	२	पत्त-मसण	सामुदाणियं पत्त-ममणं कारणट्ठा
,,	१२	रहि	रहित
२७४	१४	भूक्खू	भिक्खू

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७६	१८	आयुष्य	आयुष्यमान
२७७	१०	कायमंता	उच्चागोया वेगे णीयागोयावेगेकाय०
२७९	११	अगारि	अगार
२८०	१०	पोसणाए	पोसणयाए
२८२	१०	उसुं	उसुं आयामेत्ता
,,	११	चढग	चढंग
,,	२३	जानवर	जैसे जानवर
२८४	२	तापत्तियं	तप्पत्तियं
,,	२०	अहवारे	अहावरे
२८५	७	आदियं तं	आदियंत
२८६	४	पप्पत्तियं	तप्पत्तियं
२८८	३	जोत्तेण	अग्निकाएणं कायं उवह-हित्ता भवति जोत्तेण
२९०	११	फिर	फिर से
२९१	२३	शुद्ध	शूद्र
२९२	१५	समियस्स,	समियस्स, उच्चा-रपासवण-खेल सिंघाण जल्ल-परिट्ठवणिया समियस्स
२९२	१६	गुत्तस्त	गुत्तस्स

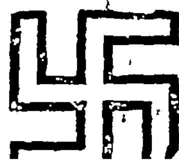
पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९३	२	वुद्धा	बद्धा
२९३	३	सेयकाले	निज्जिणगा सेयकाले
२९४	२३	सोवारिं	सोवरिं
२९५	२	पक्कमणि	विसल्लकरणि पक्कमाणि
२९६	२	करनेवालो	करनेवाली
२९७	१२	गोवालए १३	गोवालए १२ अदुवा सोवणिए १३,
२९८	२३	उवक्खाइत्ता	उवक्खाइत्ता भवइ
२९९	४	उवक्खाइत्ता	उवक्खाइत्ता भवइ
,,	८	उरब्भि-भावं	उरब्भिय—भाव
,,	१८	णणतरं	अणणतरं
३०१	४	भवत्ति	भवति
,,	१०	गाहावत्तीण	गाहावतीण
,,	१५	इति	इति से
३०५	१०	तिप्पण	तिप्पण पिट्टण परितिप्पण
३०७	२२	अभि अभिगिज्झंति	अभिगिज्झंति
३०९	२३	गिहत्था	गिहत्था महिच्छा
३१०	१७	फरिस	फरिस—रस
३१२	१४	कवोयक	कवोय
३१३	३	पप्फोडियं	पक्खापोडियं
३१६	६	असुभा	असुभा नरगा असुभा

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१६	८	उवलम्भन्ते	उवलभंते
३१६	९	डुयं	कडुयं
३२३	१६	वत	वत्थ
३२५	१७	निस्संकियं णिक्कंखियं	णिस्संकिया णिक्कंखिया
३२६	६	बहुइं	विहरमाणा बहूइं
,,	२२	एगन्ते	एगंत
३२९	१६	पावादुया	पावादुयाण
,,	२३	उहिज्जा	उहिज्जा
३३५	७	आउसरी	आउमरीरं
३३७	१५	वणस्सइ	वणस्सइ...
,,	२०	पुग्गलवि-उब्विया	पुग्गल-विउब्विया
३३८	६	वुक्क मा	वुक्कमा
३३९	५	जोणियाणं	जोणियाणं अज्झारोहाणं
,,	६	अउ	आउ
,,	१३	जोणिएसु	जोणिएसु रोहेसु
३४३	७	रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं	×
३४३	९	आलावगा	आलावगा, हरिएहिं पि तिण्णि,

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४४	९	पुष्क	पुष्कर
३४७	७	सणप्पयाणं	सणप्फयाणं
	८	पुरिस्स	पुरिसस्स
,,	१२	माउक्खारं	माउक्खीरं
,,	२३	थलयर	थलयर-पंचिंद्दिय-
,,	७	वाय—	वाउ—
३४८	१०	तिरिक्ख	तिरिक्ख....
,,	२३	थयलयर-तिरक्खाणं	
,,			थलयर-तिरिक्खाणं
			णाणा
३४९	२३	णाण	
३५२	९	याणेणं	याणेणं तत्थ-वुक्कमा
	२२	आग—	अग—
,,	२२	रायपरिसस्स	रायपुरिसस्स
३५९	२३	सम्हारे	सम्पहारे
,,	६	चित्तदण्डे ?	चित्तदण्डे भवति ?
३६०	३	भगवाय	भगवया
३६१	६	से	सेकम्मे
,,	१२	जागरमाणेवा	जागरमाणे वा...
,,	११	सनिन्कायं	सन्निकायं
३६५	४	आणादीयं	अणादीयं
३६९	६	रायभि—	रायाभि—
३८१			

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३८१	१६	अशुपज्ञ	आशुपज्ञ
३८४	१५	जायतए	जायतेए
३८८	२०	त	ते
३८९	३	सहस्ससे	सहस्से
,,	१७	धंमम्मि	धम्मंमि
३९०	१०	लोगे	लोगा
,,	२१	पुण्णण	पुण्णेण
३९१	६	जं	जे
३९२	१०	समुद्दं व	समुद्दं च
३९५	११	एत्थ	उत्तर-पुरत्थिमे दिसिभाए एत्थ
३९६	२	सवायं ।	सत्रायं ॥४॥
,,	३	उपवन की	उपवन के
,,	१२	वयासी ॥४॥	वयासी—
,,	१८	पच्चक्खत्ताणं	पच्चक्खंताणं
३९७	११	पा	पाल
४००	३	संत्तगया	संतेगइया
,,	३	च णं	च णं एवं
,,	८	निंद्दा	निद्दाय
४०१	६	तओ	तओ आउयं
४०२	१२	सव्वजीवहिं	सव्वजीवेहिं

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०२	१९	जोहिं	जेहिं
,,	२१	जोहिं	जेहिं
४०४	५	णियंता	णिग्रंठा
४०४	१२	तं	तं गारत्थं
४०५	११	भगवं	भगवं च णं
४०६	१६	सव्वसत्तहिं	सव्वसत्तेहिं
,,	१७	असञ्जए	संजए
४०७	१०	अविथ	अवितथ
४०८	२२	संमुजित्ताए	संभुंजित्ताए
४०९	२	जीव	जीवे
४१०	१५	आदिन्नादाणं	अदिन्नादाणं
,,	१६	थूरुगं	थूरुगं
४११	३	नेथावयं	नेयाउए
४२१	८	जे	तत्थ जे
४२३	७	पावभूत्ते	पावभूते
४२६	४	करेहिं	करेहि
,,	२१	सूयगेड	सूयगडो



अस्वाध्याय

निम्न लिखित चौंतीस कारण टालकर स्वाध्याय करना चाहिये।

आकास सम्बन्धी १० अस्वाध्याय	कालमर्यादा
१ बड़ा तारा टूटे तो	एक प्रहर
२ उदय अस्त के समय लालदिशा	जबतक रहे
३ अकाल में मेघगर्जना हो तो	दो प्रहर
४ ,, बिजली चमके तो	एक प्रहर
५ ,, बिजली कड़के तो	दो प्रहर
६ शुक्ल पक्ष की १--२--३ की रात	प्रहर रात्रितक
७ आकाश में यक्ष का चिन्ह हो	जबतक दिखाई दे।
८-९ काली और सफेद धूंअर	जबतक रहे
१० आकाश मण्डल धूलि से आच्छादित हो	,,

औदारिक सम्बन्धी १० अस्वाध्याय

११--१३ हड्डी, रक्त और मांस,	ये तिर्यंच के ६० हाथ के भीतर हों तो तीन प्रहर। मनुष्य के हों तो १०० हाथ के भीतर एक दिनरात। मनुष्य की हड्डी यदि जली या धुली न हो तो १२ वर्ष तक।
१४ अशूचि की दुर्गंध आवे या दिखाई दे	तब तक

१५ श्मशान भूमि सौ हाथ से कम दूर होतो

१६ चन्द्रग्रहण खंड ग्रहण में ८ प्रहर, पूर्ण होतो १२ प्रहर

१७ सूर्य ग्रहण ,, १२ ,, १६ ,,

१८ राजा का अवसान होने पर, जबतक नया राजा घोषित न हो।

१९ युद्ध स्थान के निकट जब तक युद्ध चले

२० उपाश्रय में पंचेन्द्रिय का शव पड़ा हो, जब तक पड़ा रहे

२१--२५ आषाढ़, भाद्रपद, आश्विन,

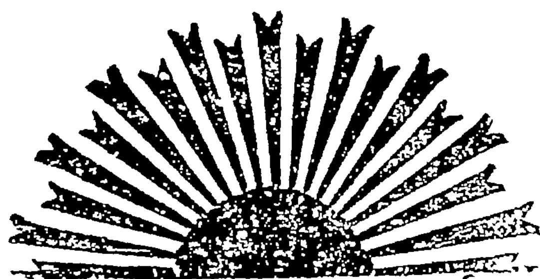
कार्तिक, और चैत्र की पूर्णिमा दिन रात

२६-३० इन पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदा ,,

३१-३४ प्रातः मध्यान्ह, संध्या और अर्द्ध रात्रि १-१ मुहूर्त

उपरोक्त अस्वाध्याय को टालकर स्वाध्याय करना चाहिए। खुले मुँह नहीं बोलना तथा दीपक के उजाले में नहीं वांचना चाहिए।

नोट—मेघ गर्जनादि में अकाल, आर्द्रा नक्षत्र से पूर्व और स्वाति से बाद का माना गया है।



* श्रीः *

॥ नमोत्थुणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसिणं ॥

* सिरि सूयगडे *

(प्रथम श्रुतस्कंध)



पहला अध्ययन

(समय-सिद्धान्त)

पहला उद्देशक

प्राणी पल-पल में आकर्षण का अनुभव करता है और उसे कभी-कभी ऐसा लगता है कि वह किसी से बंधा हुआ है। अतः उसकी अपनी गति कुंठित हो रही है। परन्तु वह बन्धन क्या है ? यह वह जान नहीं पाता। इस विषय में विभिन्न विचार हैं, मत भेद हैं। सुखेच्छुक आत्मा ने इस विषय में कई खोजें की हैं और अपने बौद्धिक विकास क्रम के अनुसार भिन्न भिन्न दृष्टि कोण से अनेक प्रकार के नतीजे निकाले हैं। प्रस्तुत अध्ययन में उन खोज के नतीजों को परखा गया है और बंधन का वास्तविक स्वरूप बताया गया है।

बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया।
किमाह बंधणं, वीरो ! किं वा जाणं तिउट्टइ ? ॥१॥

[आचार्य—'आयुष्मान् !] समझो और बन्धन के स्वरूप को जानकर, उसे तोड़ दो।' (शिष्य—) 'प्रभु वीर ने क्या बन्धन बताया है ? और क्या उसे जानकर तोड़ा जा सकता है।'

चित्तमन्त मचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणइ, एवं दुक्खा ण मुच्चई ॥२॥

[आचार्य—] जो पुरुष सजीव या निर्जीव परिग्रह लेश मात्र भी रखता है या रखने की अनुज्ञा देता है, वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।

सयं तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहि घायए।
हणन्तं वाऽणुजाणइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥३॥

जो स्वयं प्राणियों की घात करता है अथवा दूसरे से घात कराता है या घात करते हुए पुरुष का अनुमोदन करता है वह अपने वैर को बढ़ाता है।

टिप्पणी—बाह्य परिग्रह अभ्यन्तर परिग्रह-मूर्च्छादि का कारण हो जाता है। मूर्च्छावश प्राणी आरम्भ करता है— महान् अनर्थ करता रहता है। इसलिये परिग्रह और आरम्भ ये दोनों सुख स्वरूप आत्मा के लिये कठोर बन्धन है। संसार को बढ़ाते हैं।

जस्सिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे ।
ममाइ लुप्पई बाले, अण्णे अण्णेहिं मुच्छिए ॥४॥

जो आत्मा जिस कुल में उत्पन्न होता है और जिन जिनके संग में रहता है, उनसे वह यह समझकर चिपटता जाता है कि 'यह मेरा है।' इस प्रकार वह (आत्म-विकास में) 'बाल' एक पर से दूसरे पर आसक्त होता रहता है।

टिप्पणी—यहां 'अण्णे अण्णेहिं' शब्दावृत्ति से यह बताया गया है कि ज्यों-ज्यों प्राणी का संग बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसकी आसक्ति भी बढ़ती जाती है या आसक्ति के पात्र बदलते रहते हैं।

वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेयं न ताणइ ।
संखाए जीवियं चेव, कम्मुणा उ तिउट्टई ॥५॥

धन वैभव और भाई बहिन सभी रक्षा करने में असमर्थ हैं। जीवन भी कर्म के आधीन है। जो यह जान लेता है वह बन्धन तोड़ डालता है।

टिप्पणी—'संखाए जीवियं चेव, कम्मुणा उ तिउट्टई' इस श्लोकार्ध का टीकाकार ने यह अर्थ किया है—"और जीवन थोड़ा है यह ज्ञ परीज्ञा से जानकर, प्रत्याख्यान परीज्ञा से स्नेहादि को छोड़कर, कर्म से दूर हो जाता है या संयम अनुष्ठान रूप क्रिया से बन्धनों को तोड़ देता है।

एए गंथे विउक्कमे, एगे समणमाहणा ।
अयाणंता विउस्सित्ता, सत्ता कामेहि माणवा ॥६॥

कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण इन बन्धनों को नहीं मानकर अज्ञान से अनेक प्रकार की कल्पना में फंस जाते हैं और वे मानव, काम भोगों में डूब जाते हैं ।

टिप्पणी--टीकाकार ने इस गाथा की निम्न आशय की टीका की है—'कोई-कोई शाक्य भिक्षु और बृहस्पति मतावलम्बी इन अर्हत्कथित शास्त्रों को छोड़कर, अपने स्वकल्पित शास्त्र-सिद्धान्तों में अत्यन्त आग्रह रखते हैं वे अज्ञानी मानव काम भोगों में आसक्त हो जाते हैं ।

सन्ति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया ।
पुढवी आउ तेऊ वा, वाउ आगास पंचमा ॥७॥
एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणं ॥८॥

कोई कहते हैं इस लोक में पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु और आकाश ये पांच महाभूत हैं. अर्थात पांच महाभूतों से ही यह संसार बना है । इन पांच महाभूतों से ही वह क्रिया होती है जो 'जीव' नाम से प्रसिद्ध है । अतः इन महाभूतों के नष्ट होने पर वह 'देही' (जीव) भी नष्ट हो जाता है । अर्थात् संसार में महाभूतों के सिवाय और कोई तत्त्व नहीं है ।

जहा य पुढवी थूभे, एगे नाणाहि दीसइ ।
एवं भो ! कसिणे लोए, विन्नू नाणाहि दीसइ ॥९॥

जिस प्रकार एक ही पृथ्वी पिण्ड (जल, थल पर्वत रूप से) नाना प्रकार का दिखाई देता है उसी प्रकार यह

ज्ञाता (विज्ञ, ब्रह्म, आत्मा) स्वरूप सम्पूर्ण लोक विभिन्न प्रकार का दिखाई देता है अर्थात् ज्ञाता के सिवाय और तत्त्व नहीं है।

ऐवमेगेत्ति जप्पंत्ति, मंदा आरंभणिस्सिआ ।
एगे किच्चा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ ॥१०॥

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों वादी एक तत्त्व का ही प्रतिपादन करते हैं। वे आरम्भ में आसक्त हो जाते हैं और उनका विकास रुक जाता है--मन्द हो जाता है। कई सैकड़ों पाप करके तीव्र दुःख के शिकार हो जाते हैं।

टिप्पणी—गाथा ७ से १० तक भौतिक एक तत्त्व वादी और ब्रह्म एक तत्त्ववादी के मत का प्रतिपादन और उनकी बुराई का निरूपण किया गया है। दोनों वादी एक दूसरे का खण्डन करते हैं। भूतवादी (७ ८ गाथा में) दृश्य का ही अस्तित्व स्वीकार करता है और दृष्टा का निषेध करता है अर्थात् दृश्य वस्तुओं से भिन्न दृष्टा का होना नहीं मानता है और दूसरा वादी 'एकमेवाद्वितीयम्'–एक ब्रह्म ही है, दूसरा कोई नहीं है—ऐसा मानता है। दृष्टा के सिवाय दृश्य वस्तुओं का अस्तित्त्व है ही नहीं। अर्थात् जड़ और चेतन एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। नीचे के पद्य में दोनों का समन्वय है--

नीचे जल है, ऊपर हिम है।
एक तरल है एक सघन ॥
एक तत्त्व की है प्रधानता।
उसे जड़ कहो या चेतन—कामायनी

शास्त्रकार एक तत्त्व वाद को (१० वीं गाथा में) अयुक्त वताते हैं। क्योंकि दोनों ही एकतत्त्ववादी के सिद्धान्तों से प्रत्यक्ष वद्ध-वन्धक भाव का निषेध हो जाता है और इस श्रद्धा के फल स्वरूप जीव आरम्भ परिग्रह में फंसता जाता है। अतः ये वाद दुःख के कारण हैं।

पत्तेअं कसिणे आया, जे बाला जे य पण्डिया।
सन्ति पिच्चा न ते सन्ति, नत्थि सत्तोववाइया ॥११॥

सभी आत्माएं भिन्न भिन्न हैं, क्योंकि आत्माएं पंडित और अज्ञ देखी जाती हैं। अज्ञान और पाण्डित्य जहां तक जीवन है वहीं तक रहते हैं, मरने के वाद वे नहीं रहते। क्योंकि फिर से दूसरा शरीर धारण करने वाले किसी वत्त्व का अस्तित्त्व नहीं है।

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इतोवरे।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥१२॥

न पुण्य है न पाप है और इस लोक के सिवाय कोई दूसरा लोक भी नहीं है। क्योंकि देह के नाश के साथ ही देही (आत्मा) का भी नाश हो जाता है।

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई।
एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिआ ॥१३॥

कोई कोई जोश से कहते हैं—'आत्मा करता हुआ और कराता हुआ दिखाई देता है। परन्तु सव कुछ करते हुए उसकी सत्ता ही नहीं रह सकती। अतः आत्मा अकर्त्ता है

क्योंकि उसका अस्तित्त्व है या वह नित्य है।

जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया।
तमाओ ते तमं जन्ति, मन्दा आरम्भनिस्सिआ ॥१४॥

जो उपर्युक्त कथन करते हैं, वे लोक का अस्तित्त्व कैसे स्वीकार करते हैं ? आरम्भ में आसक्ति के कारण उन्हें वस्तु तत्त्व का ज्ञान नहीं हो रहा है। वे अन्धकार से अन्धकार की ओर ही जा रहे हैं।

टिप्पणी — ११वीं से १४वीं गाथा तक देहात्मवाद और आत्म-अकर्तृत्ववाद का स्वरूप बताकर, उनकी अपूर्णता की ओर संकेत किया गया है।

पहले वादी (११वीं १२वीं गाथा) का कहना है कि यदि पंच महाभूतों की क्रिया को ही आत्मा मान लें तो उनमें मूर्खता-विद्वता आदि विचित्रताएं कैसे सम्भव हो सकती है और वैसे ही एक ज्ञाता रूप जगत मानने पर भी यही आपत्ति खड़ी होती है, क्योंकि सभी आत्माएं भिन्न भिन्न हैं; उनके विकास की कमी वेशी प्रत्यक्ष दिखाई देती है। अतः मूर्खता विद्वता और कुरूपता-सुरूपता आदि लोक की विचित्रताएं पंच महाभूतों से उत्पन्न चैतन्य शक्ति को मानने पर ही सम्भव हो सकती है अर्थात संसार की विचित्रताएं महाभूतों के व्यवस्था क्रम से उत्पन्न आत्मा की ग्राहक शक्ति पर ही आधारित है। इस विचित्रता के लिये पुण्य पापकी कल्पना भी निराधार है। क्योंकि महाभूतों की अव्यवस्था से आत्मा नष्ट हो जाती है—

दूसरा शरीर धारण करने वाला कोई तत्त्व नहीं रहता।

दूसरा वादी (१३वीं गाथा) कहता है—आत्मा का अस्तित्त्व शरीर नष्ट हो जाने के वाद भी रहता है। आत्मा को सक्रिय मान लेने से ही उसके निषेध का अवसर उपस्थित होता है। यद्यपि आत्मा बुरे भले कार्य करते हुए दिखाई देता है, उसमें विचित्रताएं भी भासित होती हैं, पर वस्तुतः ऐसा है नहीं–यह सब दृष्टि विपर्यास का परिणाम है। जैसे दर्पण के सामने कोई रंगीन वस्तु या नाचती हुई आकृति आती है तो दर्पण रंगीन और नृत्यमय दिखाई देने लगता है क्योंकि उस समय दर्पण से ध्यान हटकर उस दृश्य पर ही ध्यान केन्द्रित हो जाता है। परन्तु फिर भी दर्पण में इस प्रकार की विकृति होना कोई भी समझदार स्वीकार नहीं करेगा। वैसे ही आत्मा में भी प्रकृति की क्रिया का प्रतिविम्ब पड़ता है। परन्तु आत्मा कर्त्ता नहीं है।

इस प्रकार पहला-वादी जड़ और जड़ से उत्पन्न आत्मा ये दो तत्त्व और दूसरा वादी पुरुष और प्रकृति ये दो तत्त्व मानता है। कुछ भेद से दोनों को जड़ क्रियावादी (जड़ से जगत्' मानने वाले) कह सकते हैं। सूत्रकार कहते हैं कि दोनों मत युक्ति संगत नहीं है। यदि आत्मा महाभूतों की व्यवस्था से पैदा होता है तो उस व्यवस्था को वनाने–मिटाने वाला कौन ? उसका उपभोग करने वाला कौन ? उसको धारण करने वाला कौन ? यदि जड़ से आत्मा पैदा होता है तो वह

जड़ का अंग हो जाता है न कि अंगी रहता है । इस प्रकार जड़ और चेतन को भिन्न तत्त्व नहीं मानने पर लोक के अभाव का प्रसंग उपस्थित होता है और यदि जड़ प्रकृत्ति को ही कर्त्ता और आत्मा को अकर्त्ता माना जाय तो कई दूषण पैदा हो जाते हैं । यदि आत्मा अकर्त्ता है तो वह अभोक्ता भी होना चाहिए तो फिर यह दुःख सुखानुभव किसे होता है ? मर कर जन्म कौन लेता है ? यदि आत्मा अकर्त्ता है तो उसे अलिप्त भी रहना चाहिये—जैसे कि प्रतिबिम्बित होने पर कांच को यह अनुभव नहीं होता कि वह रंगीन या नर्तित आकृति मय है । इस प्रकार जगत के अस्तित्त्व पर ही कुठाराघात होता है । दोनों वादों से लोक की स्थिति सम्भव नहीं हो सकती । गये तो थे अन्धेरे से उजेले की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर; परन्तु पहले से भी अधिक अन्धकार—अज्ञान में जा पड़े ।

सन्ति पंच महब्भूया, इहमेगेसि माहिया ।
आयछट्ठो पुणो आहु, आया लोगे य सासए ॥१५॥

किसी का कहना है—संसार में पांच महाभूत हैं और छट्ठा आत्मा है । आत्मा और लोक शाश्वत है ।

दुहओ ण विणस्संति, नो य उप्पज्जए असं ।
सव्वेऽवि सव्वहा भावा, नियत्ती भाव मागया ॥१६॥

दोनों प्रकार के (निर्हेतुक और सहेतुक) विनाश से पांच महाभूत और आत्मा का विनाश नहीं होता है । जो असत् है वह उत्पन्न नहीं होता है । सभी पदार्थ सब प्रकार से निश्चित

भाव वाले हैं ।'

टिप्पणी—(अ) निर्हेतुक विनाश=विना कारण से नष्ट होना, सहेतुक विनाश=लट्ठी आदिकारण से नष्ट होना ।

(आ) 'सभी पदार्थ सब प्रकार से निश्चित भाव वाले हैं' अर्थात् सभी भाव पदार्थ में पहले से ही विद्यमान् हैं-नये पैदा नहीं होते और जिसमें जो भाव पूरी तरह से गर्भित होते हैं-वही भाव प्रकट होते हैं-दूसरे नहीं। जैसे स्याही में वर्ण-चित्रों का पूर्ण रूप से सद्भाव है, तभी स्याही से उनका निर्माण होता है। यदि वर्णादि भाव स्याही में पूर्णतः विद्यमान नहीं होते तो उससे सजीव आदमी भी बन जाते । परन्तु स्याही में आदमियत पूर्ण रूप से विद्यमान ही नहीं है ।

पश्च खंधे वयंतेगे बाला उ खणजोइणो ।
अन्नो अणन्नो नेवाहु हेउयं च अहेउयं ॥१७॥

कोई कहते हैं-'पांच स्कन्धात्मक संसार है। वे क्षण मात्र ही स्थित रहते हैं। स्कन्धों से भिन्न या उनसे अभिन्न और कारणों से उत्पन्न या अनुत्पन्न (अनादि) आत्मा है ही नहीं—

टिप्पणी—पांच स्कन्ध इस प्रकार माने जाते हैं—

१—रूप स्कन्ध= पृथ्वी, धातु, रूप आदि ।
२—वेदना " = दुःख, सुख और अदुःख-सुख का अनुभव।
३—विज्ञान " =रूप रसादि का ज्ञान ।
४—संज्ञा " = वस्तुओं के नाम ।

५--संस्कार " = पाप-पुण्य आदि ।

पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एव माहंसु आवरे ॥१८॥

कोई दूसरे कहते हैं–'पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार धातुओं से संसार बना है। अतः आकृति (शरीर-'चतुर्धातुकमिदं शरीरं') चारों धातुओं के एकाकार होने पर बनती है।'

टिप्पणी—१५वीं १६वीं गाथा में सत्वाद का, १७वीं गाथा मे स्कन्धवादी बौद्ध और १८वीं गाथा में धातु वादी बौद्ध सिध्दान्त का प्रतिपादन किया है। १४वीं गाथा से ही इनकी अपूर्णता जानी जा सकती है।

आगा मावसन्ता वि, अरण्णा वा वि पव्वया ।
इमं दरिसण मावण्णा, सव्व दुक्खा विमुच्चई ॥१९॥

(ये सबवादी कहते हैं--) 'घरवासी हो चाहे वन-वासी हो या गिरि (गुफा) वासी हो, कोई भी इस दर्शन की शरण में आकर सभी दुखों से मुक्त हो जाते हैं।'

टिप्पणी--भूतवादी और देहात्मवादी के मत से भोगों से वंचित रहना ही दुःख है, अतः साधना में दुःख है। इन मतवादियों के लिये भोग के साधन जुटाने के प्रयत्नों के सिवाय और कोई साधना की झंझट रहती ही नहीं है। किसी भी तरह से सुखोपभोग कर सकते हैं और कोई असाध्य दुःख आने पर हत्या का रास्ता खुलते भी देर नहीं हो सकती है।

इनके अतिरिक्त वादी उनके दर्शन के ज्ञान से या आचरण से मुक्ति बताते हैं।

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंतराऽऽहिया ॥२०॥
ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसार पारगा ॥२१॥
ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, नते गब्भस्स पारगा ॥२२॥
ते णावि संधिं णच्चा ण, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारगा ॥२३॥
ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते दुक्खस्सपारगा ॥२४॥
ते णावि संधिं णच्चाणं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते मारस्स पारगा ॥२५॥

ये वादी द्रव्य को पर्याय गुण सहित या पर्याय गुण को द्रव्य के साथ नहीं देखकर अथवा कर्म को नहीं जानकर, धर्म से अनजान रहते हैं और केवल वाद-विवाद करते रहते हैं। इस प्रकार ये वादी ओघ (भूत प्रवाह या भव-प्रवाह) से संसार, गर्भ, जन्म, दुःख और मार (वासना) से पार नहीं हो सकते।

टिप्पणी—ये छहों गाथाएं ऊपर से एकार्थक दिखाई देती है। परन्तु सूत्रकार ने एकार्थक दर्शित गाथाएं अलग-अलग

देकर छहों विचार धारा का विश्लेषण किया है। भौतिक विचार धारा इस संसार को महाभूतों के निरन्तर प्रवाह (ओघ) के रूप में मानती है। यह विचार धारा दृश्य वस्तु और उसके परिवर्तन को सामने रखकर विचार करती है। प्रवाह में एकत्त्व साधने वाले तत्त्व की उपेक्षा करती है (ते णावि संधिं णच्चाणं) अतः इनका 'ओघ' (संसार प्रवाह) तभी कायम रह सकता है जबकि प्रत्येक बिन्दु अगले बिन्दु को धकेलता हुआ प्रवाहित होता रहे (न ते ओहंतराऽऽहिया) इस प्रकार प्राणों को हमेशा प्रवाह में ही बन्द रहना पड़ता है । इसके विपरीत ब्रह्मवादी दृश्यमान सभी वस्तुओं को भ्रम जनित मिथ्या मानते हैं और एक मात्र चेतन सत्ता को ही स्वीकार करते हैं। यह विचार धारा वस्तु और परिवर्तन में एकता साधने वाले तत्त्व को ही सामान्य रूप से सामने रखती है और वस्तु की सत्ता व शक्ति के सिवाय और गुणों और द्रव्यों की उपेक्षा करती है। इस प्रकार जड़ चेतन का अभेद रूप से स्वीकार हो जाता है। (ते णावि संधिं णच्चा णं) जबकि संसार का अस्तित्त्व ही भ्रम में है तो फिर उससे अलग होने का प्रयत्न भी भ्रम ही ठहरेगा और तब मुक्त–संसारी की विभाजक रेखा ही गायब हो जायगी (न ते संसार पारगा) शरीरात्मवादी भूतों की व्यवस्था से आत्मा की उत्पत्ति मानकर, वस्तु की वर्तमान पर्याय के सिवाय अतीत अनागत पर्याय का निषेध कर देता है (ते णावि संधि णच्चा णं) व्यवस्था क्रम अपने आपही नहीं हो

जाता है। एक व्यवस्था क्रम से दूसरा व्यवस्था क्रम बनता है। पूर्व व्यवस्था क्रम, पर व्यवस्था क्रम में विद्यमान रहेगा तभी जगत प्रवाह व्यवस्थित रह सकेगा। इस प्रकार गर्भ-परम्परा से मुक्त होना ही असम्भव हो जायगा (न ते गब्भस्स पारगा) इसके विपरीत आत्म अकर्तृत्त्व विचार धारा आत्मा के और जड़ के सम्बन्ध का ही निषेध कर देती है। यह विचार धारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ही स्वीकार करती है और अशुद्ध रूप का इन्कार करती है (ते णावि संधिं णच्चा णं) इस प्रकार पुरुप अपने में अवस्थित है तो प्रकृति अपना धर्म बजाती जायगी—जन्मादि क्रिया होती रहेगी (न ते जन्मस्स पारगा) सत्वादी द्रव्य में उसकी पर्यायों के होने का आत्यन्तिक आग्रह रखता है। यह विचार धारा द्रव्य पर्याय को एक रूप में ग्रहण करती है, उनके असली सम्बन्ध की उपेक्षा करती है (ते णावि संधिं णच्चाणं) इस मत से जो जिसमें निश्चित रूप से विद्यमान रहता है उसीका उसमें आविर्भाव होता है। अतः शोकादि को भी सत् समझने चाहिए। इस प्रकार दुःखादि का आत्मा से आत्यन्तिक अभाव कदापि नहीं हो सकेगा और वह पुनः अवसर पाकर प्रकट हो जायगा (न ते दुक्खस्स पारगा) इसके विपरीत क्षणिक वादी पर्याय में ही द्रव्य की कल्पना कर लेता है और आग्रहवश द्रव्य का निषेध करता है (ते णावि संधिं णच्चाणं)। यदि क्षण-क्षण विनाश में भी वासना की एकता रह सकती है तो कभी उसके अभाव

का अवसर भी उपस्थित नहीं होगा और क्षण-क्षण विनाश का ताँता भी नहीं रुकेगा (न ते मारस्स पारगा) इस प्रकार जो द्रव्य पर्याय के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते हैं और जीव तथा अजीव के संयोग की भूल-भुलैया में चक्कर खा रहे हैं वे धर्म के मर्म को कैसे समझ सकते हैं क्योंकि वस्तु स्वरूप को जाने बिना (सम्यक् ज्ञान–सच्ची समझ के विना) सही रूप से धर्म रह ही नहीं सकता (न ते धम्मविओ जणा) और एकान्त आग्रह वश सिर्फ वादों का तुमुल द्वन्द्व ही बढ़ सकता है (जे ते उ वाइणो एवं) ।

नाणाविहाइं दुक्खाइं. अणुहोन्ति पुणो पुणो ।
संसार चक्कवालंमि. मच्चु वाहि जराकुले ॥२६॥
उच्चावयाणि गच्छन्ता, गब्भमेस्सन्ति णन्तसो ।
नायपुत्ते महावीरे एवमाह जिणुत्तमे ॥ त्ति बेमि ॥२७॥

इन विचारों में लीन प्राणी मृत्यु, व्याधि और जरा से परिपूर्ण संसार चक्र में नाना प्रकार के दुःखों का बार बार अनुभव करते हैं और ऊंच नीच गतियों में भ्रमण करते हुए अनन्त बार गर्भ धारण करेंगे । ऐसा जिनोत्तम ज्ञात पुत्र महावीर ने कहा है ।

* इति पहला उद्देशक *

दूसरा उद्देशक



आघायं पुण एगेसिं, उववन्ना पुढो जिया ।
वेदयंति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पन्ति ठाणओ ॥१॥

और दूसरे कहते हैं—जीव भिन्न हैं—यह युक्ति से सिद्ध होता है या जीव अलग-अलग उत्पन्न होते हैं और अलग अलग सुख दुःख भोगते हैं अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं।

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं ।
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥२॥
सयं कडं न अन्नेहिं, वेदयन्ति पुढो जिया ।
संगइयं तं तहा तेसिं, इह मेगेसिमाहियं ॥३॥

वह सुख दुःख स्वयं के वश का नहीं है तो उन्हें दूसरा कोई कैसे बना सकता है ? सुख हो अथवा दुःख हो, वह सैद्धिक (निमित्त से होने वाला) हो या असैद्धिक (विना किसी निमित्त के होने वाला) हो, जिसे सभी जीव पृथक्-पृथक् भोगते हैं, वह सुख-दुःख न खुद के श्रम से होता है और न दूसरे के करने से होता है, किन्तु वह सांगतिक (होनहार के वस) है ।

एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडिअ माणिणो ।
निययानिययं संतं, अयाणंता अबुद्धिया ॥४॥

ऐसे बोलते हुए माने जाने वाले विद्वान बालक के समान हैं। क्योंकि सुख-दुःख नियतानियत (किसी अपेक्षा से होनहार और किसी अपेक्षा से स्वकृत—पुरुपार्थ जनित) हैं। परन्तु वे ऐसा नहीं मानते हैं—बुद्धि से काम नहीं लेते हैं।

एवमेगे उ पासत्था, ते भुज्जो विप्पगब्भिआ ।
एवं उवट्ठिया सन्ता, न ते दुक्ख विमोक्खगा ॥५॥

अपने कर्त्तव्य में शिथिल कई पुरुष बार-बार उपर्युक्त प्रलाप करते हैं। परन्तु वे अपने सिद्धान्त में स्थिर रहकर किसी भी प्रकार दुःख से मुक्त नहीं हो सकते अर्थात् दुःख मिटाने के लिये किये जाने वाले कर्त्तव्य उनके सिद्धान्तानुसार व्यर्थ प्रमाणित होंगे। अतः जो दुःख मिटाने का प्रयत्न करता है वह नियति वादी ही नहीं कहा जा सकता।

जविणो मिगा जहा सन्ता, परिताणेण वज्जिया ।
असंकियाइं संकन्ति, संकियाइं असंकिणो ॥६॥

जैसे रक्षक से रहित वेगवान (चञ्चल) मृग शंका रहित स्थान में शंका करते हैं और शंकित स्थान में शंका नहीं करते हैं।

परियाणिआणि संकंता, पासियाणि असंकिणो ।
अन्नाण भय संविग्गा, संपलिंति तहिं तहिं ॥७॥

इस प्रकार रक्षित स्थान में शंकित और बन्धन के स्थान में निःशंक, अज्ञान और भय से युक्त होकर, नहीं जाना चाहते हैं वहीं जा फंसते हैं अर्थात् बन्धनों मे जा पड़ते हैं।

अहं तं पवेज्ज वज्झं, अहे वज्झस्स वा वए ।
मुच्चेज्ज पयपासाओ, तं तु मंदे न देहए ॥८॥

यदि मृग उस बन्धन को लांघ जाय या बन्धन के नीचे से निकल जाय तो वह स्वतन्त्र-बन्धन से मुक्त हो सकता है । परन्तु वह कुण्ठित बुद्धि के कारण ये उपाय नहीं देख सकता है ।

अहियप्पाऽहियपन्नाणे, विसमंतेणुवागए ।
स बद्धे पयपासेणं, तत्थ घायं नियच्छइ ॥९॥

उस मृग की बुद्धि अहितकर है जो विषम (भयङ्कर) स्थान में जाकर, पाश में कैद हो जाते हैं और अपना अहित कर बैठते हैं । आखिर में मृत्यु को प्राप्त करते हैं ।

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिआ ।
असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो ॥१०॥

इसी प्रकार (मृग के समान) कई विपरीत दृष्टि वाले अनार्य जैसे (तुच्छ) विचार वाले श्रमण शंका-रहित स्थान में शंका करते हैं और शंका योग्य स्थान में शंका नहीं करते हैं ।

धम्म पण्णवणा जा सा, तं तु संकंति मूढगा ।
आरंभाइं न संकंति, अवियत्ता अकोविया ॥११॥

वे मुग्ध प्राणी जो धर्म का यथातथ्य स्वरूप है उसमें तो शंका करते हैं—अधर्म मानते हैं । परन्तु आरम्भ करने से नहीं हिचकिचाते हैं । वास्तव में वे अंतरङ्ग से अकुशल हैं—शास्त्र ज्ञान से रहित हैं । (इसीलिये धर्माधर्म को नहीं पहचान पाते)

सव्वपगं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिया ।
अपत्तिअं अकम्मं से, एयमट्ठं मिगे चुए ॥१२॥

वे मृग के समान इस अर्थ को भुला देते हैं कि सारे लोभ (सव्वपगं) मान (विउक्कस्सं) माया (णूमं) और क्रोध (अपत्तिअं) को त्याग कर, जीव कर्म रहित होता है ।

टिप्पणी— टीकाकार ने इस गाथा का उपर्युक्त अर्थ किया है । परन्तु यह अर्थ संतोषप्रद नहीं लगता है ।

जे एयं नाभि जाणंति, मिच्छ दिट्ठी अणारिया ।
मिगा वा पासबद्धा ते, घायमेस्सन्ति णन्तसो ॥१३॥

जो मिथ्या दृष्टि अनार्य इस अर्थ से अनभिज्ञ रहते हैं, वे पाशबद्ध मृग की तरह (एक बार नहीं) अनन्त बार मरेंगे ।

माहणा समणा एगे, सव्वे नाणं सयं वए ।
सव्वलोगेऽवि जे पाणा, न ते जाणंति किंचण ॥१४॥

कई कहते है—ब्राह्मण और श्रमण सभी अपना-अपना ज्ञान बताते हैं । परन्तु सारे लोक के जो प्राणी हैं वे कुछ भी नहीं जानते हैं ।

मिलक्खू अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताणुभासए ।
ण हेउं स विजानाति, भासिअं तऽणुभासए ॥१५॥

जैसे आर्य जो भाषा बोलता है उसके अनुसार म्लेच्छ बोल देता है परन्तु (भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण) वह आर्य के बोलने का कारण (निमित्त) नहीं जान पाता । कहे

हुए को मात्र बोल देता है।

एवमन्नाणिया नाणं, वयन्ता वि सयं सयं ।
निच्छयत्थं न याणंति, मिलक्खुव्व अबोहिया ॥१६॥

इसी प्रकार म्लेच्छ के समान अनजान अबुद्ध वे अपना अपना ज्ञान बताते हैं। परन्तु वे वास्तविक अर्थ को नहीं जानते है अर्थात् उस वाद के मूल प्रणेताने किस आशय से और क्यों उस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था—यह नहीं जानकर वे उस कथन को ज्यों का त्यों यों ही दुहरा रहे हैं।

टिप्पणी—ज्ञानी कहे जाने वाले भी वास्तव में अज्ञानी हैं क्योंकि ज्ञानी-ज्ञानी में मत भेद है। वे पैरों से ताडित फुटबॉल की तरह सिद्धान्तों के शिकार हो रहे हैं। सब ओर अज्ञान का ही राज्य है। अत: अज्ञान ही श्रेष्ठ हैं। ज्ञान के नाम पर अशान्ति क्यों मोल लें?—यह अज्ञेय वादी का कथन है।

अन्नाणियाणं वीमंसा, अन्नाणे ण विनियच्छइ ।
अप्पणो य परं नालं, कुत्तो अन्नाणुसासिउं ॥१७॥

अज्ञानवादी का उपर्युक्त विचार प्रकट करना ही उसे अपने वाद से दूर हटा देता है क्योंकि अज्ञानी ऐसा विचार ही नहीं कर सकता है कि 'अज्ञान के सिवाय कुछ नहीं है।' तो फिर दूसरे को अज्ञान की (सभी अज्ञेय है—यह) शिक्षा कैसे दे सकता है।

वणे मूढे जहा जंतू, मूढे नेयाणुगामिए ।
दो वि एए अकोविया, तिव्वं सोयं नियच्छइ ॥१८॥

जैसे जंगल में कोई प्राणी रास्ता भूल गया और किसी दूसरे राह भूले हुए प्राणी का अनुसरण करता है, तो वे दोनों ही बड़े दुःखी होते हैं। क्योंकि वे दोनों राह से अनजान हैं।

अंधो अंधं पहं नेन्तो, दूर मद्धाणुगच्छइ ।
आवज्जे उप्पहं जन्तू, अदुवा पंथाणुगामिए ॥१९॥

अंधे को लेजाने वाला अंधा, जहां जाता है वहां से दूर चला जाता है या उलटे रास्ते चला जाता है अथवा दूसरी ही राह पकड़ लेता है [रास्ते में ही डोलता फिरता है।]

एवमेगे वि नियागट्ठी, धम्ममाराहगा वयं ।
अदुवा अहम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्जुयं वए ॥२०॥

इस प्रकार कई मोक्षार्थी कहने मात्र के धर्माराधक रह जाते हैं अथवा अधर्माचरण करने लग जाते हैं, परन्तु सीधे साधे संयम मार्ग को अंगीकार नहीं करते हैं।

एवमेगे वियक्काहिं, नो अन्न पज्जुवासिया ।
अप्पणो य वियक्काहिं, अयमंजूहिं दुम्मई ॥२१॥

और कई वितर्कों में फंसकर, दूसरे की (ज्ञानी की) उपासना—सेवा नहीं करते हैं और अपने वितर्कों से दुर्मति को स्पष्ट सरल मान लेते हैं।

एवं तक्काइं साहेन्ता, धम्माधम्मे अकोविया ।
दुक्खं ते नाइतुट्टेन्ति, सउणी पंजरं जहा ॥२२॥

इस प्रकार तर्क के द्वारा धर्म और अधर्म का विवेक करने मे अकुशल, दुःखों से मुक्त नहीं हो सकते, जैसे कि

मणसा जे पउस्संति. चित्तं तेसिं ण विज्जइ ।
अणवज्ज मतहं तेसिं, ण ते संवुड-चारिणो ॥२९॥

जो मन से द्वेष (हिंसा पाप) करते हैं उनको ज्ञान नहीं है । उनको पाप रहित कहना तथ्य शून्य है । क्योंकि उनका आचरण संवृत (आश्रव रहित=संयमी) नहीं है ।

टिप्पणी—जो मानसिक हिंसा करता है उसका चित्त अशुद्ध होता है । जिसका चित्त अशुद्ध है वह अज्ञानी है । क्योंकि ज्ञानी के लिये अशुद्धि (क्लिष्ट चित्त वृत्ति) का कोई कारण ही नहीं रहता है । जिसका चित्त क्लिष्ट है उसे पाप बन्धन होता ही है । चित्त की विक्षिप्तता—अशुद्धता से ही बिना निरीक्षण के गमनागमन होता है और स्वप्न की हिंसा भी क्लिष्ट चित्त का परिणाम है, अतः पाप लगेगा ही ।

'मैं मारता हूं, ऐसा चित्त का परिणाम हुए बिना हिंसा में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । और 'मैं मारता हूं' इस चितवृत्ति को शुद्ध कैसे माना जाय । जो अनासक्त है-संयमी है, वह मांस भक्षण को उद्यत ही कैसे हो सकता है । कोई मांस खाकर अनासक्त या अहिंसक नहीं रह सकता और वह निष्पाप भी नहीं रह सकता ।

इच्चेयाहि य दिट्ठीहिं, सायागारवनिस्सिया ।
सरणंति मन्नमाणा, सेवंती पावगं जणा ॥३०॥

जिनकी ऐसी (अनासक्त हिंसा की) श्रद्धा है वे अपने दर्शन को शरण दाता मानकर, सुख-भोग और बढ़ाई में आसक्त हो जाते हैं और पाप करते हैं ।

जहा अस्साविणिं नावं, जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागन्तुं, अन्तरा य विसीयई ॥३१॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छ-दिट्ठी अणारिया ।
संसार-पार-कंखी ते, संसारं अणुपरियट्टन्ति ॥त्ति बेमि॥

जैसे कोई जन्मान्ध फूटी नाव पर चढ़कर पार जाना चाहता है, परन्तु बीच में ही डूब मरता है ।

वैसे ही मिथ्या दृष्टि, अनार्य्य श्रमण संसार से पार होने की इच्छा करते हैं, परन्तु (दृष्टि विपर्यास से) संसार में ही भमते रहते हैं ।

* इति दूसरा उद्देशक *



तीसरा उद्देशक

जं किंचि उ पूइकडं, सड्ढी मागंतु मीहियं ।
सहस्संतरियं भुंजे, दुपक्खं चेव सेवइ ॥१॥

जो साधु थोड़ा भी पूतिकृत (आधाकर्म से मिश्रित) आहार और श्रद्धालु के द्वारा किन्हीं आगन्तुक मुनियों के लिये बनाया हुआ आहार, हजार घर के अन्तर से लाकर खाता है, वह साधु, गृहस्थ और साधु दो पक्ष का सेवन करता है ।

तमेव अवियाणंता, विसमंसि अकोविया ।
मच्छा वेसालिया चेव, उदगस्सऽभियागमे ॥२॥

उदगस्स पभावेण, सुक्कंसि घातमेन्ति उ।
ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहिं ते दुही ॥३॥
एवं तु समणा एगे, वट्टमाण-सुहेसिणो।
मच्छा वेसालिया चेव, घातमेस्संति णंतसो ॥४॥

विषम (भयङ्कर) स्थान में अकुशल और अनजान विशाल मच्छ ज्वार-भाटे में—

जल के प्रवाह से सूखे हुए स्थान में गिरकर मांस के इच्छुक ढंक और कंक पक्षियों द्वारा दुःखित होते हैं और मौत को प्राप्त होते है।

उसी तरह वर्तमान सुख के अभिलाषी कई श्रमण वैशालिक मत्स्य की तरह (एक बार नहीं) अनन्त बार मरेंगे।

टिप्पणी—रसनेन्द्रिय की लोलुपता से ही आहार के दोषों का सेवन होता है। जब तक रस (काम गुण) पर काबू नहीं होता तब तक पूर्ण ब्रह्मचर्य्य का, पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य का पूर्ण अचौर्य्य का और अपरिग्रह का पालन होना कठिन है। रसासक्त दुराचारी अपने आपको ठगता रहता है और आत्म गुणों की घात करता रहता है। यदि स्वात्म-घातक अनन्तवार मरे तो क्या आश्चर्य्य ?

इन गाथाओं का अगली गाथाओं से क्या संबंध है, इस विषय में टीकाकार भी मौन है।

इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसिमाहियं।
देवेउत्ते अयं लोए, बम्भउत्ते इ आवरे ॥५॥

(लोक की रचना के विषय में) यह दूसरा अज्ञान

है । कोई कहता है—'यह लोक देवोप्त (देव के द्वारा बनाया हुआ या देव के द्वारा रक्षित) है ।' दूसरा कहता है—'ब्रह्मोप्त (ब्रह्म का बनाया हुआ या ब्रह्म में प्रतिष्ठित) है ।'

ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे ।
जीवा जीवं समाउत्ते, सुह दुक्खसमन्निए ॥६॥

कोई कहते हैं—' लोक ईश्वर की रचना है । जीव अजीव ईश्वर ने बनाये हैं । सुख और दुःख भी ईश्वर कृत हैं।' दूसरे कहते हैं—'लोक प्रधानादि (सत्त्व, रज, तम, गुण) से बना है । लोक जीव-अजीव से युक्त है और सुख दुःख मय है । (अर्थात् त्रिगुणात्मक सृष्टि है) ।

सयंभुणा कडे लोए, इइ वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ॥७॥

महर्षिने ऐसा कहा है कि-लोक स्वयंभू (स्वतः अपने आप उत्पन्न) की रचना है । यमराज ने माया बनाई है इसलिये लोक अनित्य है ।

टिप्पणी—बौद्ध साहित्य में 'मार' शब्द कामदेव जैसे व्यक्तित्त्व के लिये प्रयुक्त हुआ है और इस श्लोकार्ध का यह अर्थ बौद्ध पक्ष में घटित हो जाता है कि 'वासना से संसार का विस्तार है अतः वासना के समान ही लोक क्षण क्षण में बदलता रहता है ।' परन्तु जगत्-कर्तृत्त्व का प्रसङ्ग होने से 'मार' शब्द का अर्थ यम किया गया है अर्थात् सृष्टा स्वयंभू है और संहारक यम ।

माहणा समणा एगे, आह—'अंडकडे जगे'।
'असो तत्तमकासीय' —अयाणंता मुसं वदे ॥८॥

कई श्रमण-ब्राह्मण कहते हैं कि--'जगत अण्डे से उत्पन्न हुआ है' और 'ब्रह्मा ने (असो=उसने) तत्त्व की रचना की है।' वे वस्तु स्थिति को बिना समझे मिथ्या बोलते हैं।

टिप्पणी— 'अण्डे से संसार बना' इसका आशय यह है--पहले प्रलय में जगत अप्रकट-विलीन (असदेवे मग्र आसीत्) था। फिर धीरे-धीरे एक अण्डा उत्पन्न हुआ। वह एक वर्ष बाद फूटा और उसके दोनों टुकड़ों के बीच में स्वर्ग मर्त्यादि सृष्टि की रचना हुई। यह सृष्टि-सर्जना वैज्ञानिकों की नीहारिका सृष्टि से कुछ कुछ मिलती जुलती है।

तत्त्व=महत्तत्त्व='मैं ईश्वर हूं'-ऐसा अहङ्कार होने से पहले की अवस्था=बुद्धि। ब्रह्मा में पहले बुद्धि का आविर्भाव हुआ। बुद्धि से अहंकार और बाद में, मन तत्पश्चात् तन्मात्रादि की ब्रह्मा ने रचना की।

सयेहि परियाएहिं, लोयं बूया कडेति य ।
तत्तं तेण वियाणंति, ण विणासी कयाइवि ॥९॥

(उपर्युक्त सृष्टि-कर्तृत्ववादी) जो अपनी-अपनी युक्तियों से लोक को बना हुआ कहते हैं। परन्तु वे वस्तु स्वरूप को नहीं जानते हैं क्योंकि लोक कभी भी विनाशी नहीं है।

टिप्पणी-जो अविनश्वर होता है वह अजन्मा भी होता है। यदि कोई लोक को अविनाशी समझ लेता है, तो

वह यह जान लेता है कि लोक का कभी सर्जन हो नहीं सकता।

अमणुन्न समुप्पायं, दुक्खमेव वियाणिया।
समुप्पाय मजाणन्ता, कहं नायंति संवरं ? ॥१०॥

अमनोज्ञ– असत् अनुष्ठान (अशुभ कर्त्तव्य) से दुःख उत्पन्न होता है। जो दुःख की उत्पत्ति का कारण नहीं जानते हैं वे दुःख के नाश का उपाय कैसे जान सकते हैं।

टिप्पणी--दुःख अपने कर्म का ही फल है अतः वह जागरुक होकर हर एक कर्त्तव्य करता है। जो दुःख के उत्पत्ति के कारण से अज्ञात रहता है—जान नहीं पाता है वही किसी अन्य को उसका कर्त्ता कल्पित कर लेता है और सद् अनुष्ठान से पतित हो जाता है।

सुद्धे अपावए आया, इह मेगेसि माहियं।
पुणो किड्डापदोसेणं, सो तत्थ अवरज्झई ॥११॥

कोई कोहते हैं--आत्मा शुद्ध निष्पाप है वह क्रीड़ा प्रद्वेष से (मस्ती से; क्रीड़या प्रद्वेषेण=लीला से या द्वेष से) वहां पुनः बन्ध जाता है।

टिप्पणी-इससे मिलता जुलता ही आज का मस्तवाद है। बन्धन (राग-द्वेष) में भी एक प्रकार के सुख का अनुभव होता है अतः बन्धन को भी मस्त अपनी मस्तीमें--खुमारी में अपनाता है। टीकाकार के मत से सूत्रकार ने इस गाथा में त्रैराशिक मत का उल्लेख किया है। त्रैराशिक का अर्थ है आत्मा की तीन अवस्थाएं मानने वाला त्रैराशिक मानते हैं

कि आत्मा शुद्ध निष्पाप हो जाती है 'संसारी' और 'संसार से मुक्त' ये दो अवस्थाएं हुईं। वहां मुक्ति में स्वभावतः राग द्वेष बद्ध होकर आत्मा वापिस जन्म लेती है 'मुक्त से संसारी' यह तीसरी अवस्था हुई। दयानन्दजी सरस्वती का मत भी इससे मिलता जुलता है।

इह संवुडे मुणी जाए, पच्छा होइ अपावए।
वियडम्बु जहा भुज्जो नीरयं सरयं तहा ॥१२॥

यहाँ पर जो संयमी मुनि रहता है वह बाद में निष्पाप हो जाता है और फिर जैसे निर्मल जल (हवा से उड़ने वाली धूल के द्वारा) मैला हो जाता है वैसे ही वह आत्मा मलीन होकर जन्म लेता है।

एताणुवीति मेहावी. बंभचेरे ण ते वसे।
पुढो पावाउया सव्वे, अक्खायारो सयं सयं ॥१३॥

बुद्धिमान् चिन्तन करके देखें कि सभी प्रवादी अपनी अपनी अलग-अलग कहते रहते हैं। ये ब्रह्मचर्या (आत्मचर्या=आत्मानुष्ठान) में स्थित नहीं होते हैं।

सए सए उवट्ठाणे, सिद्धिमेव न अन्नहा।
अहो इहेव वसवत्ती, सव्वकाम समप्पिए॥१४॥

कई कहते हैं—अपने-अपने कर्म करते हुए ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है अन्यथा नहीं। पर वह संसार में रहता हुआ अपने को ईश्वर के वशवर्ती बना ले, (अर्थात् ईश्वर प्रीत्यर्थ कर्म करे) अपनी सब कामनाएं उसे समर्पित करदे। (निष्काम कर्म करे।)

सिद्धा य ते अरोगा य, इहमेगेसि माहियं ।
सिद्धिमेव पुरोकाउं, सासए गढिया नरा ॥१५॥

(जो निष्काम कर्म करते हैं) वे सिद्ध हो जाते हैं और नीरोग [आधि, व्याधि, उपाधि, आदि से रहित] हो जाते हैं—" कई यों कहते हैं—"जो सिद्धि को ही आगे रखते हैं (कर्म छोड़कर, साधना करते हैं) वे नर अपने आशयों (अहंकार) में ही बन्ध जाते हैं।"

टिप्पणी—टीकाकार ने १४वीं-१५वीं गाथा का निम्न अर्थ किया है—'वे वादी (शैव-एक दण्डी आदि) अपने-अपने दर्शनानुसार साधना से (शैव दीक्षा से, एक दंडी तत्त्व ज्ञान से, वेदान्ती ध्यान अध्ययन और समाधि से) सिद्धि मानते हैं और अन्य की साधना से मुक्ति नहीं मानते। हमारे दर्शन से इसी जन्म में, आत्मवर्ती=इन्द्रियजीत होने पर, जो जो इच्छाएं हैं वे सभी पूर्ण होती हैं अर्थात् उसे ऐश्वर्यशाली आठ सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं ॥ १४ ॥ वे जीव, जो कि हमारे दर्शन के अनुसार अनुष्ठान करते हैं, शरीर त्याग कर समाधि के द्वारा सिद्ध होते हैं और वे सभी प्रकार के रोगों से रहित हो जाते हैं—ऐसा वे शैवादि कहते हैं वे अपने अनुष्ठान से सिद्धि को ही लक्ष्य करके—आगे करके, अपने आशयों से बन्धकर, उनके अनुकूल युक्तियों का ही प्रतिपादन करते हैं ॥१५॥

असंवुडा अणाईयं, भमिहिन्ति पुणो पुणो ।
कप्पकालमुवज्जन्ति, ठाणा आसुरकिब्बिसिया । त्तिबेमि ।

इस प्रकार वे असंवृत्त (संयम रहित) हो जाते हैं और अनादिक (आदि रहित=संसार) में (जिसे किसी कर्त्ता की कृति मान करके, उसमें उस कल्पित व्यक्तित्त्व के भरोसे अपने को छोड़ दिया है, उस संसार में) बार बार भ्रमण करेंगे। चिरकाल तक असुर स्थान में (भवनपत्यादि में) प्रेष्य-भूत (नौकर) रूप से उत्पन्न होंगे। ऐसा मैं कहता हूं।

※ इति तीसरा उद्देशक ※



चौथा उद्देशक

एए जिया भो ? न सरणं, बाला पण्डियमाणिणो।
हिच्चा णं पुव्वसंजोगं, सिया किच्चोवएसगा ॥१॥

हे शिष्य ! पण्डित माने जाने वाले ये बाल संसार से रक्षा करने में समर्थ नहीं है। वे पूर्व संयोग=धन जनादि को त्यागकर, कृत्य=छह काय की हिंसा हो ऐसे कर्म का उपदेश करते हैं।

तं च भिक्खू परिन्नाय, वियं तसु ण मुच्छए।
अणुक्कस्से अप्पलीणे, मज्झेण मुणि जावए ॥२॥

विद्वान साधु उन वादियों को अच्छी तरह से परख कर, उनमें आसक्त (मोहित) न हो उन वादियों के बीच वह

वस्तु स्थिति को जानने वाला मुनि अपनी उत्कृष्टता का अभिमान न करे और न उनमें अपने को ही भूल जाय। मध्यस्थ भाव से रहे—व्यवहार करे।

सपरिग्गहा य सारंभा, इहमेगेसि-माहियं ।
अपरिग्गहा अणारंभा, भिक्खू ताणं परिव्वए ॥३॥

परिग्रही और हिंसक का भी किसीने एकाक्षर रूप दीक्षा मात्र से कल्याण होना बता दिया। परन्तु वह अपरिग्रही और अहिंसक भिक्षु की शरण में जाए।

कडेसु घासमेसेज्जा, विऊ दत्तेसणं चरे ।
अगिद्धो विप्पमुक्को अ, ओमाणं परिवज्जए ॥४॥

और विद्वान साधु गृहस्थ के अपने लिए बनाये हुए आहार की (१६ उद्गम दोषों से रहित) गवेषणा करे और (बिना किसी स्वार्थ के) दिये हुए आहार की (१६ उत्पाद दोषों से रहित) ही इच्छा करे और (निर्वद्य) ग्रहण करे (चरे) (१० ग्रहणैषणा-दोषों से रहित) और अनासक्ति से राग द्वेष रहित होकर (५ ग्रासैषणा-दोषों को छोड़कर) आहार करे। (इस प्रकार रहता हुआ साधु, अभिमान वश किसी का) अपमान न करे।

लोगवायं णिसामिज्जा, इहमेगेसि माहियं ।
विपरीय पन्नसंभूयं, अन्नउत्तं तयाणुया ॥५॥

कई कहते हैं कि 'लोकवाद [पौराणिक सिद्धान्त] सुनना चाहिये।' पर विपरीत बुद्धि से उसकी रचना हुई है और उसी अन्योक्त का वहां अनुसरण होता है।

अणंते निइए लोए, सासए ण विणस्सई ।
अंतवं णिइए लोए, इति धीरोऽतिपासई ॥६॥
अपरिमाणं वियाणाई, इहमेगेसिमाहियं ।
सव्वत्थ सपरिमाणं, इति धीरोऽतिपसाई ॥७॥

(लोक वाद में ऐसे मत हैं) 'यह लोक नियत और (अर्थात स्त्री सदा स्त्री ही रहती है, पुरुष सदा पुरुष रहते हैं, मनुष्य मनुष्य और जानवर २ ही रहते हैं) अनन्त हैं [आपसी सम्बन्धों का नाश नहीं होता है] 'लोक शाश्वत है–उसका नाश नहीं होता है । लोक अन्त सहित है (सप्त द्वीप-सप्त समुद्रादि मर्यादित संख्या वाला है ।) और नित्य है–' ऐसा धीर पुरुष (व्यासादि) देखते हैं ।'

कोई कहता है—'अतीन्द्रिय [अपरिमाणं=क्षेत्र-काल से परे के] पदार्थों को जाना जाता है [अन्य पदार्थों को जाने या न जाने, उससे कुछ लाभ नहीं । या सर्वत्र सपरिमाण [मर्यादित] पदार्थ देखे जाते हैं अर्थात् कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता है—ऐसा धीर पुरुष देखते हैं ।'

जे कोइ तसा पाणा, चिट्ठंति अदु थावरा ।
परियाए अत्थि से अंजू, जेण ते तस्स थावरा ॥८॥

जो कोई त्रस या स्थावर प्राणी हैं, वे [त्रसता-स्थावरता] प्राणियों की पर्य्याय हैं । इसलिये प्राणी अवश्य ही त्रस से स्थावर और स्थावर से त्रस होते हैं ।

उरालं जगओ जोगं, विवज्जासं पलेंति य ।
सव्वे अक्कंत दुक्खय अओ सव्वे अहिंसया ॥९॥
एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण ।
अहिंसा समयं चेव, एतावत्तं वियाणिया ॥१०॥

जगत [औदारिक शरीर वाले प्राणियों] का योग स्थूल है अतः वह विकृत हो जाता है जिससे प्राणियों को दुःख होता है । इसलिये किसी की हिंसा करना योग्य नहीं है ।

ज्ञानियों के लिये यही न्याय संगत है कि वे किसी की हिंसा नहीं करें । क्योंकि अहिंसा का सिद्धान्त ही ज्ञानियों का समझना चाहिये ।

वुसिए य विगय गेही, आयाणं सम्म रक्खए ।
चरिआसण सेज्जासु, भत्तपाणे य अंतसो ॥११॥
एतेहिं तिहिं ठाणेहिं, संजए संततं मुणी ।
उक्कसं जलणं णूमं, मज्झत्थं च विगिंचए ॥१२॥

मुनि 'चलने-फिरने' सोने-बैठने और खान-पानादि में अनासक्त और स्थिर बुद्धि होकर रहे और [सम्यग् ज्ञान-दर्शन चारित्र रूप] आत्मा की भली भांति रक्षा करे ।

मुनि [(१) चर्य्या में उपयोग (२) अनासक्ति-स्थिर बुद्धि और (३) आत्म रक्षा] इन तीन बातों में अपने को साधे-स्थिर करे और मान (उक्कसं=बढ़प्पन) क्रोध [जलणं=प्रणिधान का दाहक] माया (णूमं-गहन अंधकार) और लोभ (मज्झत्थं-पापों का माध्यम, पाप का बाप) का त्याग करे ।

समिए उ सया साहू, पंच-संवर-संवुडे ।
सिएहिं असिए भिक्खू, आमोक्खाय परिव्वएज्जासि त्तिबेमि।

साधु सदा समितियों से युक्त और पांच संवर से संवृत (संयमी) रहे । निर्वंध (निर्ग्रन्थ) भिक्षु, जहां तक मोक्ष प्राप्त न कर ले वहां तक आबद्ध प्राणियों (सिएहिं - परिग्रही--आरंभी) में संयम से रहे । ऐसा मैं कहता हूं ।

※ इति चौथा उद्देशक ※

पहला अध्ययन समाप्त



दूसरा अध्ययन

(वेयालिय=उद्बोधन)

मनुष्य यह जानता है कि वह जर-जोरू—जमीन के बन्धन में बन्धा हुआ है और हिंसा मे आसक्त है । परन्तु वह यह जानकर भी उन बन्धनों से मुक्त नहीं होता है । अरे कभी कभी तो वह यह भी भूल जाता है कि वह बन्दी है । वह बन्धनों को चिरकालीन अभ्यास से अपने शृङ्गार—अपने अवलम्बन और जिन्दगी के आधार मान लेता है और मान लेता है कि इसके सिवाय, हम जन्तुओं की कोई दूसरी वास्तविक

अवस्था नहीं हो सकती। सूत्रकार ने इस ओर संकेत करते हुए, इस अध्ययन में जागरण–सन्देश दिया है।

टीकाकार ने इस अध्ययन को ऋषभदेव प्रभु के द्वारा, भरतचक्री से आतंकित अपने ९८ पुत्रों को बोध देने के रूप में उपदिष्ट बताया है।

पहला उद्देशक

संबुज्झह किं न बुज्झह ? संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥१॥

(भगवान ऋषभदेव कहते हैं—) 'समझो! क्यों नहीं समझते हो? मरने के बाद सद्ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है। बीती हुई रात्रियाँ वापिस नहीं लौटती और (संयम जीवन का आधार) मानव जीवन फिर से पाना सरल नहीं है।

डहरा बुड्ढा य पासह गब्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे एवं आउखयंमि तुट्टई ॥२॥

बालक–बूढ़े तो क्या गर्भस्थ मानव भी मर जाते हैं। जैसे बाज पक्षी तित्तर पक्षी को मार डालता है वैसे ही आयु नष्ट होने पर मनुष्य भी मर जाते हैं।

मायाहि पियाहि लुप्पई नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।
एयाइं भयाइं पेहिया, आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ॥३॥

माता-पिता आदि के स्नेह में आसक्त प्राणी संसार

में भ्रमण करते हैं। उनको मरने के बाद सद्गति मिलना सरल नहीं है। सुव्रत पुरुष इन भयों को देखकर आरम्भ से अलग हो जायँ।

जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहई नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥४॥

अव्रती—सावद्य क्रिया में रत पुरुषों की निम्न दशा होती है—वे प्राणी जगत में अपने किये हुए कर्मों से अलग अलग दुःख पाते हैं–नरकादि में जाते हैं। कर्मों को भोगे विना उनका छुटकारा नहीं हो सकता।

देवा गंधव्व-रक्खसा, असुरा भूमिचरा सरीसिवा।
राया नरसेट्ठि-माहणा ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया।५।

देवता, गंधर्व, राक्षस, असुर, भूमिचर, तिर्यंच, राजा, नगर श्रेष्ठि, ब्राह्मण, सभी अपने-अपने स्थान को दुःखी होकर छोड़ते हैं।

कामेहि य संथवेहि गिद्धा, कम्मसहा कालेण जन्तवो।
ताले जह बंधणच्चुए, एवं आउक्खयंमि तुट्टती ॥६॥

इच्छाओं और अपने परिचित संगी-साथियों में मोहित प्राणी, कर्म फल भोगते हुए यथा समय आयु क्षय होने पर मर जाते हैं, जैसे कि डाल से (बन्धन) छूटा हुआ ताल फल गिर जाता है।

जे यावि वहुस्सुए सिया, धम्मिय माहण भिक्खुए सिया।
अभिणूम-कडेहि मुच्छिए तिव्वं ते कम्मेहिं किच्चती ॥७॥

जो मनुष्य चाहे वे शास्त्रज्ञ हों, धार्मिक हों, ब्राह्मण हों, चाहे भिक्षु हों, मायामय अनुष्ठानों में आसक्त हैं, वे अपने को कर्मों से पीड़ित करते हैं।

अह पास विवेगमुट्ठिए, अवितिण्णे इह भासई धुवं।
णाहिसि आरं कओ परं, वेहासे कम्मेहिं किच्चती ॥८॥

और देखो ! कई विवेक (तत्त्व विचारक बुद्धि) से आगे बढ़ते हैं, परन्तु संसार सागर से पार पहुंचने से पहले ही यहाँ मोक्ष की बातें बताते हैं (अथवा कई सुख दुःख के विषय में विचार करते हैं परन्तु 'सुख क्या है, दुःख क्या है ?' इसका पूर्ण निश्चय नहीं कर पाते और वे यहीं पर (संसार में ही) ध्रुव (सुख स्वरूप) का आरोपण कर लेते हैं)। हे शिष्य ! उनसे आर (संसार) पार (मोक्ष) कैसे जाने जा सकते हैं, जब कि वे स्वयं अपने को कर्मों से पीड़ित करते हैं।

जइ वि य नगिणे किसे चरे, जइ वि य भुंजिय मासमंतसो।
जे इह मायाई मिज्जई, आगंता गब्भाय णंतसो ॥९॥

जो मायादि कषाय से युक्त हैं, वह भले नंगा और दुबला होकर फिरे या महिने महिने भर बाद भोजन करे, पर वह अनन्त बार गर्भ में आता है [जन्म लेता है]।

पुरिसो रम पाव-कम्मुणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा ।१०।

हे पुरुष ! तू पाप कर्म से निवृत्त हो जा। मनुष्यों का जीवन पर्यन्त=परिमित=थोड़ा है। जो नर मनुष्य होकर

काम=इच्छा में मूर्छित आसक्त है, असंवृत—संयम से रहित है, वे मोह–अंधकार [आत्म ज्ञान और आत्म विश्वास से शून्य अवस्था] में जाते हैं।

जययं विहराहि जोगवं, अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा।
अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं संमं पवेइयं ॥ ११ ॥

हे पुरुष ! यत्ना सावधानी से योगवान् मन, वचन और काया से सद् प्रवृत्ति करता हुआ रह। क्योंकि मार्ग अनुप्राण—सूक्ष्म प्राणियों या क्षुद्र प्राणियों से दुरुत्तर कठिन बने हुए हैं। अत: अनुशासन–आप्त-वीतराग की आज्ञानुसार ही पराक्रम–संयमादि क्रिया कर। सभी वीरोंने–शत्रु भाव से मुक्त पुरुषों ने [उपर्युक्त तरीके से रहना ही] सम्यक् ठीक बताया है।

विरया वीरा समुट्ठिया, कोह कायरियाइ पीसणा।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरयाऽभिनिव्वुडा।१२।

जो वीर, पापों से दूर होकर सम्यक् कर्त्तव्य करते हैं, क्रोध व मायादि का नाश कर देते हैं, प्राणियों की हिंसा नहीं करते हैं और सर्वशः मन, वचन, काया से पापों से विरत हैं वे पुरुष मुक्त के समान हैं।

ण वि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंति लोअंसि पाणिणो।
एवं सहिएहिं पासए, अणिहे से पुट्ठे अहियासए।१३।

"मैं ही दुःखी नहीं हूं, संसार में प्राणी प्रायः दुःखी ही हैं—" ऐसा समझकर, दुःखों में अपना हित देखे और

उन्हें समभाव से सहन करे।

धुणिया कुलियं व लेववं, किसए देह मणासणाइहिं।
अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो।१४।

"लेप धुली हुई दीवाल के समान अनशनादि से देह को कृश बना दें। अनेक प्रकार की हिंसा से दूर रहे। मुनियों ने यही धर्म कहा है।

टिप्पणी—दैहिक स्थूलता त्याग मार्ग में—आत्म सामीप्य में प्रायः बाधक होती है। देह के आश्रित ही मन, वचन के योग हैं। काया को कसने पर मन, वचन पर नियंत्रण करने में सहायता मिलती है। इसीलिए शास्त्रों में जगह २ पर देह-दमन का महत्व प्रतिपादित किया गया है "देह दुक्खं महाफलं"--दशवैकालिक

अनशन शब्द से उपलक्षण के द्वारा बारह प्रकार के तप का यहां ग्रहण हो जाता है। सूत्रकारने सकषाय [हिंसात्मक] तप की, ऊपर ७वीं गाथा में व्यर्थता बताकर यहां अहिंसात्मक तप की उपयोगिता बताई है।

सउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं।
एवं दवि ओवहाणवं, कम्मं खवइ तवस्सि माहणे ॥१५॥

जैसे धूल भरी पक्षिणी अपने पंखों को फड़ फड़ाकर, देह में लगी हुई धूल को झाड़ देती है वैसे ही अनशनादि तप करने वाला अहिंसक तपस्वी कर्म का क्षय कर देता है।

उट्ठियमणगारमेसणं, समणं ठाणठिअं तवस्सिणं।
उहरा बुड्ढा य पत्थए. अवि सुस्से न य तं लभेज्ज णो।१६।

जो अणगार अपनी इच्छाओं में जाग्रत है, समता शील संयम में स्थिर और तप में उद्यत है, उनसे बालक-बूढ़े गृहवास में रहने के लिये प्रार्थना करते करते थक जायं, पर वे उन मुनि को नहीं पा सकते ।

जइ कालुणियाणि कासिया, जइ रोयंति य पुत्तकारणा ।
दवियं भिक्खूं समुट्ठियं, णो लब्भंति ण संठवित्तए ।१७।

साधु के माता, पिता, स्त्री आदि उसके पास आकर करुणा जनक वचन बोले या कार्य करे अथवा पुत्र के कारण रुदन करे, फिर भी वे संयम में पूरी तरह से स्थिर साधु को नहीं डिगा सकते हैं, न गृहवास में स्थिर बना सकेत हैं ।

जइ वि य कामेहि लाविया, जइ णेज्जाहि णं बंधिउं घरं ।
जइ जीविय नावकंखए, णो लब्भंति णं संठवित्तए ॥१८॥

यदि संयम में उद्यत साधु को काम-भोगों का लोभ दिया जाय या बांधकर घर ले जाया जाय, पर वह जो जीवन की इच्छा से रहित हो तो वे उस साधु को अपने अनुकूल नहीं कर सकते हैं—गृही नहीं बना सकते हैं ।

सेहंति य णं ममाइणो, माय पिया य सुया य भारिया ।
पोसाहि ण पासओ तुमं, लोग परं पि जहासि पोसणो ।१९।

ममता शील माता-पिता और स्त्री-पुत्र संयम में उद्यत पुरुष को इस प्रकार सीख देते हैं—'तुम हमारा पालन करो । यदि तुम हमारा पालन करना छोड़ते हो तो लोक का किनारा भी नहीं पा सकते हो ।'

टिप्पणी—उन स्वजनों के कहने का यह तात्पर्य है कि यदि तुम हमारे पालन रूप छोटे से कर्त्तव्य का भी पालन नहीं कर सकते हो अर्थात् प्रत्यक्ष की उपेक्षा करते हो तो भवपार कैसे हो सकोगे अर्थात् अप्रत्यक्ष की भी उपेक्षा कर बैठोगे।

अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा।
विसमं विसमेहिं गाहिया, ते पावेहिं पुणो पगब्भिया।२०।

इस प्रकार परस्पर आसक्त असंवृत-असंयमी मनुष्य अपना लक्ष्य भूल जाते हैं (मोहं जंति)। वे विषम (मोही) जनों के द्वारा विषमता (ममत्व) को ग्रहण करके पाप करने में निर्लज्ज (ढीठ) हो जाते हैं।

तम्हा दवि इक्ख पंडिए, पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे।
पणए वीरं महाविहिं, सिद्धिपहं णेआउयं धुवं ॥२१॥

अतः हे भव्य! विचार कर। पाप कर्त्तव्यों को त्यागने वाले और दुर्घटनाओं से अप्रभावित रहने वाले वीर पुरुष, ध्रुवत्व की ओर लेजाने वाले मोक्ष मार्ग रूप राज मार्ग को प्राप्त करते हैं।

वेयालिय मग्ग मागओ, मण वयसा काएण निव्वुडो।
चिच्चा वित्तं च नायओ, आरंभं च सुसंवुडे चरे ॥त्ति बेमि॥

कर्म क्षय करने के मार्ग के राही, मन, वचन और काया की सावद्य क्रिया से रहित पुरुष, धन, जन और आरंभ को त्यागकर सुसंवृत=पूर्ण रूप से संयम में स्थिर बनकर

विचरण करे। ऐसा मैं कहता हूं।

* इति पहला उद्देशक *



दूसरा उद्देशक

मनुष्य स्थूल त्याग—बाह्य त्याग अधिक कठिनाई के बिना भी कर सकता है। परन्तु अपने आपको बड़ा समझने की वृत्ति वह बड़ी कठिनाई से छोड़ पाता है। वह संसार में रहता है तव उसे धनादि का गौरव रहता है। धनादि के अभाव में जाति-कुलादि का अभिमान हो जाता है। इस प्रकार अभिमान स्थूल से सूक्ष्म पर होता जाता है और त्याग में अपने त्याग पर ही अभिमान होने लगता है—इसलिये साधक को अपनी दृष्टि को पैनी बनाने की बड़ी आवश्यकता रहती है। अपने अवगुणों की ओर से आँखे मूंद लेने से और अपने बड़प्पन का ही हमेशा चिंतन करते रहने से अभिमान उत्पन्न होता है—दूसरे को तुच्छ समझने की वृत्ति जाग्रत होती है। अभिमान अशान्ति का जनक और उत्थान का अवरोधक है। अतः सूत्रकार ने वाह्य त्याग के उपदेश के वाद इस उद्देशक में अभिमान त्याग रूप आभ्यन्तर त्याग का उपदेश किया है—

तयसं व जहाइ से रयं, इतिसंखाय मुणी ण मज्जइ।
गोयन्न तरेण माहणे, अहसेयकरी अनेसी इंखिणी ॥१॥

साँप के काँचली-त्याग के समान मुनि मैलापन (कर्म) छोड़ते हैं—यह जानकर संयमी मुनि गोत्रादि का अभिमान नहीं करते हैं, वे दूसरे की निन्दा भी नहीं करते हैं क्योंकि पर निंदा अकल्याणकारी है।

जो परिभवई परं जणं, संसारे परिवत्तई महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जई ।२।

जो दूसरे का तिरस्कार करता है वह संसार में बहुत समय तक परिभ्रमण करता है अथवा पर निन्दा पापों को बढ़ाती है—ऐसा जानकर मुनि अभिमान नहीं करते हैं।

जे यावि अणायगे सिया, जे विय पेसगपेसए सिया।
जो मोणपयं उवट्ठिए, नो लज्जे समयं सया चरे ॥३॥

चाहे चक्रवर्ती सम्राट् हो, चाहे दास का दास हो—जिसने मुनि पद पा लिया है, वे लज्जा छोड़ दे—सदा सम-भाव से विचरें।

सम अन्नयरंमि संजमे, संसुद्धे समणे परिव्वए।
जे आवकहा समाहिए, दविए कालमकासी पंडिए ॥४॥

श्रमण किसी भी (पाच में से) एक विशुद्ध संयम में वहां तक समता से स्थिर रहे—जहां तक वह अमुक नाम से पुकारा जाता रहे अर्थात् जो भव्य और पण्डित हैं वे मृत्यु पर्यंत संयम में स्थिर रहें।

दूरं अणुपस्सिया मुणी, तीयं धम्ममणागयं तहा।
पुट्ठे फरुसेहिं माहणे, अवि हण्णू समयंमि रीयइ ॥५॥

दूरदर्शी मुनि, अतीत और अनागत जीवों के स्वभाव को देखकर, कठोर स्पर्श से ताड़ित होने पर भी अहिंसक मुनि समता से रहते हैं।

पण्ण समत्ते सया जए, समता धम्म मुदाहरे मुणी ।
सुहुमे उ सया अलूसए, णो कुज्झे णो माणि माहणे ॥६॥

प्रज्ञापूर्ण=बुद्धिमान मुनि सदा अपने को जीते; समता धर्म का उपदेश करे। संयम की विराधना न करे। अहिंसक मुनि न क्रोध करे, न मान करे।

वहु जण णमणंमि संवुडो, सव्वट्ठेहिं नरे अणिस्सिए ।
हदएव सया अणाविले, धम्मं पादुरकासी कासवं ॥७॥

वहुत से मनुष्यों के नमस्कार करने पर भी संवृत (साधु) पुरुष, सभी अर्थ इच्छाओं से, निर्मल जल के सरोवर के समान रहित होकर, भगवान काश्यप का धर्म प्रकाशित करे।

वहवे पाणा पुढो सिया, पत्तेयं समयं समीहिया ।
जे मोणपयं उवट्ठिए, विरतिं तत्थ अकासि पंडिए ॥८॥

संसार में वहुत से प्राणी हैं। प्रत्येक भिन्न-भिन्न हैं। जो विवेकी मुनि वन गये हैं, वे उनको अपने समान जानकर, उन जीवों की घात से विरत रहें।

धम्मस्स य पारए मुणी, आरम्भस्स य अंतए ठिए।
सोयंति य णं ममाइणो, णो लब्भंति णियं परिग्गहं ।९।

ऐसे मुनि धर्म का मर्म समझ लेते हैं और प्रवृत्तियों

(आरंभ) का अन्त कर देते हैं—स्थिर हो जाते हैं। इसके विपरीत मुग्ध (मोही) प्राणी निज परिग्रह (अपनी इच्छाओं की तृप्ति) नहीं कर पाते हैं और चिन्ता करते रहते हैं।

इह लोग दुहावहं विऊ, पर लोगे य दुहं दुहावहं।
विद्धंसण धम्ममेव तं इति, विज्जं कोऽगारमावसे ॥१०॥

उनका इह लोक भी दुःख से बीतता है। परलोक भी दुःख के कारण कठिनाई से व्यतीत होता है। अर्थात उन्हें अतृप्त कामनाएं और तद् जन्य शोक सदा दुःखित करते रहते हैं—यह सत्य समझो। काम के आधार या भोग--उपभोग विनाश शील हैं—यह ज्ञान यदि सचमुच ही प्राप्त हो जाय तो गृहवास में कौन रह सकता है।

महयं परिगोव जाणिया, जा वि य वंदण पूयणा इहं।
सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विउमंता पयहिज्ज संथवं ॥ ११ ॥
एगे चर ठाणमासणे, सयणे एग समाहिए सिया।
भिक्खू उवहाण वीरिए, वइ गुत्ते अज्झत्त संवुडो।१२।

संसार में परिचय या आसक्ति और वंदन–पूजा को काँटे समझना चाहिए। ये काँटे बहुत सूक्ष्म हैं और मुश्किल से निकाल सकते हैं। इसलिए बुद्धिमान पुरुष जगत् के सह-वास—परिचय का त्याग करे।

वह अकेला विचरे; अकेला ठहरे–बैठे और सोए। भिक्षु वचन और आत्मा को नियंत्रित करके अकेला ही समाधि–शान्ति के साथ तप में रत रहे।

णो पीहे ण याव पंगुणे, दारं सुन्न-घरस्स संजए।
पुट्ठे ण उदाहरे वयं, ण समुच्छे णो संथरे तणं ॥१३॥

(इस प्रकार एकाकी विचरने वाला) साधु शून्य गृह के द्वार न वंद करे, न खोले। किसी के पूछने पर (अर्थात् द्वारादि वंद करने के लिये कोई पूछे तो) न बोले। न कचरा साफ करे और न तृणादि ही बिछाए।

जत्थऽत्थमिए अणाउले, सम-विसमाइं मुणीऽहियासए।
चरगा अदुवा वि भेरवा, अदुवा तत्थ सरीसिवा सिया।१४।
तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाऽहिसासिया।
लोमादीयं ण हारिसे, सुन्नागार गओ महामुणी ॥ १५ ॥

जहां सूर्यास्त हो जाय, वहीं वे मुनि ठहर जायं। सम-विषम परिषह सहे। चाहे मच्छर हों, चाहे भयंकर सर्पादि जानवर हो।

अथवा तिर्यञ्च के, मनुष्य के और देव के ये तीन उपसर्ग हों—सब कष्टों को शून्यागार में महामुनि रोंगटे को खड़े किये विना सहन करे।

णो अभिकंखेज्ज जीवियं, नोऽवि य पूयण पत्थए सिया।
अब्भत्थ मुविंति भेरवा, सुन्नागार गयस्स भिक्खुणो ॥१६॥

(उपसर्ग आने पर) भिक्षु न जीने की इच्छा करे (और उपसर्ग जीत लेने पर) न पूजे जाने की मांग करे (अथवा अपनी पूजा-प्रशंसा के लिये कष्ट न सहे)। इस प्रकार शून्य गृह में रहने से साधु को भयंकरता में निवास करने

का (निर्भयता का) अभ्यास हो जाता है।

उवणीयतरस्स ताइणो, भयमाणस्स विविक्क मासणं।
सामाइय माहु तस्स, जं जो अप्पाण भए ण दंसए ॥१७॥

'जो मोक्ष के समीप हैं, भय भीतों की रक्षा करते हैं, एकान्त सेवी हैं और जो कभी आत्मा मे भय को नहीं आने देते हैं उनको सामायिक चारित्र कहा गया है।

उसिणोदग-तत्तभोइणो, धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो।
संसग्गि असाहु राइहिं, असमाहीउ तहागयस्स वि ॥१८॥

जो मुनि गर्म जल, ठंडा किये बिना, पीते हैं; धर्म में स्थिर हैं, असंयम से लज्जित हैं उन्हें राजादि का संग करना अच्छा नहीं है। क्योंकि संग दोप से तथागत (मोक्ष के समीप पहुंचे हुए) भी समाधि (आत्म-रमणता) से भ्रष्ट हो जाते हैं।

अहिगरणकडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पसज्झ दारुणं।
अट्ठे परिहायती बहु, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए ॥१९॥

जो भिक्षु अधिकरण (कलह) करता है अथवा दूसरों पर मन ही मन छीजा करता है, वह कटुभापी—प्रलापी बन जाता है और भयंकर आत्म-पीड़ा पाकर, अपने अर्थ=लक्ष्य= मनोरथों को नष्ट कर देता है। इसलिए विवेकी अधिकरण न करे अर्थात् बार बार दूसरों के दोपों का अभिमान के साथ चिंतन न करे।

सीओदग पडि दुगुंछिणो, अपडिण्णस्स लवावसप्पिणो ।
सामाइयमाहु तस्स जं जो, गिहिमत्तेऽसणं न भुंजती ॥२०॥

जो सचित जल पीने से घृणा करता है, अप्रतिज्ञ=अमर्यादित=संयम हीन का जरा भी अनुसरण नहीं करता है और जो गृही के वर्तनों में भोजन नहीं करते हैं उसे समभावी=सामायिक चारित्री कहा है।

ण य संखय माहु जीवियं, तह वि य वालजणो पगब्भइ ।
वाले पावेहिं मिज्जती, इति संखाय मुणी ण मज्जती ॥२१॥

जीवन सस्कृत=उच्च, विशुद्ध या संस्कार युक्त नहीं है फिर भी वाल अविकसित जन जीवन (प्राकृत जीवन) को विशुद्ध वताने की धृष्टता करते हैं और पापों के द्वारा अभिमान करते हैं—या लिप्त होते हैं। यह जानकर मुनि जीवन पर अभिमान न करे।

टिप्पणी—टीकाकारने इस गाथा का निम्न अर्थ किया है—"जीवन रहस्यज्ञों ने कहा है कि "टूटा हुआ जीवन फिर नहीं जोडा जा सकता हे" तथापि अज्ञ जन पाप करने में धृष्ट हो जाते हैं और वे पापों से भर जाते हैं—यह जानकर मुनि अपने आचरण पर अभिमान न करे।"

छंदेण पले इमा पया, वहुमाया मोहेण पाउडा ।
वियडेण पलिंति माहणे, सीउण्हं वयसाऽहियासए ॥२२॥

जनता मोह (अन्धविश्वास और असत्याचरण) से युक्त होकर वहुत माया (कपट) करती हुई, अपनी इच्छा से डूव जाती है। परन्तु मुनि निष्कपटता से तल्लीन हो जाते हैं

और ठण्डी–गर्मी को 'ऊफ' तक किये विना ही सहते हैं ।

कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं ।
कडमेव गहाय णो कलिं, नो तीयं नो चेव दावरं ॥२३॥
एवं लोगंमि ताइणा, वुइए जे धम्मे अणुत्तरे ।
तं गिण्ह हियंति उत्तमं, कडमिव सेसऽवहाय पंडिए ।२४।

जैसे चतुर जुए का खिलाड़ी, कौशल से पासे के द्वारा खेलता है और कृत दाँव ही लेता है, कलि, त्रेता या द्वापर नहीं लेता है । (अर्थात कृत=सम्पूर्ण युग, त्रेता=एक चौथाई हीन युग, द्वापर=आधा हीन युग और कलि=तीन चौथाई हीन युग। सम्भवतः इन युगों की हीनाधिकता को लक्ष्य करके जुएँ में दावों की कृतादि संज्ञा होगी ।)

वैसे ही लोक में विवेकी पुरुप, प्राणी मात्र के रक्षक के द्वारा कहे गये अनुत्तर धर्म को हितकारी और उत्तम समझ कर, अन्य मतों को छोड़कर, कृत दॉव के समान ग्रहण करे ।

उत्तर मणुयाण आहिया, गामधम्मा इह मे अणुस्सुयं ।
जंसी विरया समुट्ठिया, कासवस्स अणुधम्म चारिणो ।२५।

यहां मैंने कई बार सुना है—'मनुष्यों के लिये ग्राम-धर्म, समूह धर्म (भेड़िया धसान) वलवान है । जो सम्यक् प्रयत्न शील होते हैं, वे समूह धर्म से दूर हो जाते हैं, वे ही काश्यप के धर्म के अनुयायी हो सकते हैं ।

टिप्पणी—"ग्रामधर्म" का अर्थ टीकाकार ने "शब्दादि-विषयाः मैथुनरूपा वेति" किया है। पर—"समूह

धर्म" अर्थ अधिक व्यापक प्रतीत होता है। जिसेकि आजकल "जनधर्म" "युगोचित धर्म" आदि नामों से पुकारा जाता है। आजकल कई विद्वान "महाजनो येन गतः स पन्था" पद में "महाजन" शब्द का भी अर्थ "जन समूह" करने लग गये हैं, इसलिए स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जन-प्रवाह की रगड़ कितनी दुर्निवार है।

जे एय चरंति आहियं, नाएण महया महेसिणा।
ते उट्ठिय ते समुट्ठिया, अन्नोन्नं सारंति धम्मओ ॥२६॥

महान् महर्षि ज्ञातपुत्र द्वारा कथित धर्म का जो आचरण करते हैं, वे संयम शील हैं—उत्थान की ओर पूरी तरह अग्रसर हैं। वे धर्म में एक दूसरे को सहायता देते हैं।

मा पेह पुरा पणामए, अभिकङ्खे उवधिं धूणित्तए।
जे दूमण तेहि णो णया, ते जाणंति समाहि माहियं ।२७।

पहले भोगे हुए काम-भोगों का स्मरण न करे। उपाधि= आठ प्रकार के कर्मों के नाश की इच्छा करे। दुर्मन=विषय कषायादि–मन की बुरी प्रवृत्ति के वशीभूत न हो, वे पुरुष प्रभु से कथित समाधि—आत्मानन्द का अनुभव करते हैं।

णो काहिए होज्ज संजए, पासणिए ण य संपसारए।
णच्चा धम्मं अणुत्तरं, कयकिरिए ण यावि मामए ॥२८॥

मुनि (सिर्फ जनता का मनोरञ्जन करने वाला) कथाकार न हो, न प्राश्निक=प्रश्नफल बताने वाला हो और न सम्प्रसारक=तन्त्र-मन्त्रादि बताने वाला या न धन-जनादि की वृद्धि-हानि और वृष्टि आदि का उपाय बताने वाला हो। परंतु

लोकोत्तर धर्म को जानकर सक्रिय रहे और ममता न करे।

छन्नं च पसंस नो करे, न य उक्कोस पगास माहणे।
तेसिं सुविवेग माहिए, पणया जेहिं सुजोसियं धुयं ।२९।

साधु माया और अपनी प्रशंसा न करे और न अपने उत्कर्ष (दबदबे) का प्रकाश करे। जिन्होंने एक मात्र मोक्ष के लक्ष्य से प्रगति की है, उनका विवेक प्रशंसनीय है, क्योंकि वे संयम में रत रहते हैं।

अणिहे सहिए सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।
विहरेज्ज समाहिइंदिए, अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ ॥३०॥

निःस्नेह=वस्तु की आसक्ति से रहित, सहित=अपने हित को देखकर, सुसंवृत=पूर्ण संयमी, धर्मार्थी उपधानवीर्य=तप में पराक्रमशील होकर, समाहित इन्द्रिय=इन्द्रियों को योग्य कार्य्य में लगाकर विचरे। क्योंकि आत्म कल्याण बड़े प्रयत्न से होता है।

ण हि नूण पुरा अणुस्सुयं, अदुवा तं तह णो समुट्ठियं।
मुणिणा सामाइ आहियं, नाएणं जग सव्वदंसिणा ॥३१॥
एवं मत्ता महंतरं, धम्ममिणं सहिया बहू जणा।
गुरुणो छंदाणुवत्तगा विरया, तिन्न महोघ माहियं।त्ति बेमि।

जगत् के सभी भावों को देखने वाले ज्ञात पुत्र मुनि के द्वारा उपदिष्ट सामायिकादि धर्म, निश्चय ही या तो सुना नहीं या सुनकर सम्यक् आचरण नहीं किया—

ऐसा मानकर बहुत से जन इस उत्तम धर्म मे युक्त

होकर और पाप से दूर होकर गुरु के आज्ञानुवर्ती हुए एवं जो (संसार) महा प्रवाह कहा जाता है उससे पार हो गये।

ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पणी—सारे उद्देशक में सूत्रकार ने मान के विविध रूपों का वर्णन करके अभिमान को मिटाने का उपदेश किया है। अहंकार--कष्ट सहिष्णु नहीं होने देता—सम्यक् अनुष्ठान में प्रवृत्त नहीं होने देता। इस उद्देशक में इसीकी झांकी कराई गई है। जिसके सहारे साधक चिंतन के द्वारा अहंकार के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम स्थानों को जानकर, प्रयत्न करने पर उनसे अछूता रह सकता है।

※ इति दूसरा उद्देशक ※



तीसरा उद्देशक

संवुडकम्मस्स भिक्खुणो, जं दुक्खं पुट्ठं अवोहिए।
तं संजमओऽवचिज्जई, मरणं हेच्च वयंति पंडिया ॥१॥

संवृत कर्म (जिसने आठों कर्मों के आगमन को रोक दिया है ऐसे) भिक्षु को अज्ञान से जो दुःख हो रहा है वह संयम से नष्ट हो जाता है और वह विवेकी मृत्यु से रहित हो जाता है।

जे विन्नवणाहिऽज्झोसिया, संतिन्नेहिं समं वियाहिया ।
तम्हा उड्ढं ति पासहा, अदक्खु कामाइ रोगवं ॥२॥

जो विज्ञापन से (जिससे काम-भोगों की पूर्ति होती है उनसे) सेवित नहीं है अथवा जो पुरुष स्त्री-संग से रहित है या जो स्त्री पुरुष-संग से रहित है, उन्हें मुक्त के समान जानना चाहिए। क्योंकि जो काम भोगों को रोग के समान-मानते हैं वे ही उनसे परे होकर मुक्त हो सकते हैं।

अग्गं वणिएहिं आहियं, धारंती राईणिया इहं ।
एवं परमा महव्वया, अक्खाया उ सराइ भोयणा ।३।

जैसे व्यवसायियों=व्यापारियों के द्वारा लाई हुई बहु-मूल्य सामग्री राजादिक समर्थ पुरुष धारण करते हैं वैसे ही विख्यात, श्रेष्ठ महाव्रत और रात्रि भोजन त्याग को मुनि धारण करते हैं।

जे इह सायाणुगा नरा, अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया ।
किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमाहितं ।४।

संसार में सुख के पीछे दौड़ने वाले मनुष्य काम--भोगों को पाकर उनमे आसक्त हो जाते हैं, वे कंजूस के समान अपने को काम-भोगों की तिजोरी में बंद करते जाते हैं और जो वास्तविक सुख है उससे वंचित रह जाते हैं।

वाहेण जहा व विच्छए, अबले होइ गवं पचोइए ।
से अंतसो अप्पथामए, नाइवहइ अबले विसीयति ॥५॥

एवं कामेसणं विऊ, अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं ।
कामी कामे न कामए, लद्धेयावि अलद्ध कण्हुई ॥६॥

जिस प्रकार गाड़ीवान के द्वारा मारकर हांके जाने पर भी अवल वैल अपनी अल्प शक्ति के कारण आखिर में भार वहन नहीं कर पाता है और वह वेचारा दुर्वल दुःखित होता है—

उसी प्रकार काम-विषय को प्राप्त करने में चतुर पुरुष "इन्हे आज छोड़ूं—कल छोड़ दूंगा"—इस प्रकार सोचा करता है। पर कामी पुरुप को (जो कल्याण का इच्छुक हो तो उसे) चाहिए कि वह काम गुणों की चाह न करे और प्राप्त हुए काम-भोगों को अप्राप्त ही समझे।

मा पच्छ असाहुया भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं ।
अहियं च असाहु सोयती, से थणति परिदेवती वहु ॥७॥
इह जीवियमेव पासहा, तरुण एवा ससयस्स तुट्टती ।
इत्तर वासे य वुज्झह, गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ॥८॥
जे इह आरंभ निस्सिया, आतदंडा एगंत लूसगा ।
गंता ते पाव लोगयं, चिररायं आसुरियं दिसं ॥९॥

(प्राप्त काम भोगों को अप्राप्त समझकर) फिर उन काम-भोगों को यह सोचकर त्याग दे कि कहीं असाधुता फिर न हो जाय। और वह अपने आपको यों शिक्षित करे—'असाधुता अच्छी नहीं है। असाधु शोक करते हैं, निराश होते हैं और वहुत विलाप करते हैं—

"आत्मन् ! यहां जीवन की ओर ही देख। शतायु पुरुष (सौ वर्ष जीने वाला) भी जवानी में मर जाता है। यह समझ ले कि—यहां थोड़े समय के लिए रहना है। ऐसा जानकर भी जो तुच्छ होते हैं वे पुरुष ही काम-भोगों में लिप्त हो सकते हैं।

"आत्मन् ! जो आरंभ में आसक्त हैं वे अपनी आत्मा को दंड दे रहे हैं, निश्चय ही वे आत्म-हत्या कर रहे हैं। वे पाप लोक को जाते हैं या अज्ञान तप से असुरता पाते हैं।"

ण य संखयमाहु जीवियं, तहवि य बालजणो पगब्भई।
पच्चुपन्नेन कारियं, को दट्ठुं परलोग मागते ॥१०॥

"जीवन संस्कृत (जैसा प्राप्त हुआ है वैसा ही जीने योग्य) नहीं है—ऐसा कहते हैं। फिर भी बालजन (प्राकृतिकता के नाम पर) ढीठता करते हैं। वे कहते हैं—"हमें वर्त्तमान जीवन से मतलब है। परलोक को कौन देखकर आया है।"

अदक्खुव दक्खुवाहियं (तं) सद्दहसु अदक्खु दंसणा।
हंदि हु सुनिरुद्ध दंसणे, मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ।११।

हे अन्धवत् पुरुष ! और ए अदृश्य को देखने वालों ! जिन्होंने जो है वही देखा है उनपर श्रद्धा करो। अपनी आसक्ति से ग्रहण किये हुए कर्म से दर्शन शक्ति रुक जाती है—बंद हो जाती है अर्थात् तत्व को जानकर उसपर प्रतीति करने की शक्ति आवृत हो जाती है—यह समझो।

दुक्खी मोहे पुणो पुणो, निव्विदेज्ज सिलोग पूयणं।
एवं सहितेऽहिपासए, आयतुले पाणेहि संजए ॥१२॥

दुःखी बार-बार मोहित होते हैं, अतः पूजा प्रशंसा की चाह न करे (अर्थात् अपने यश के लिये दुःखी न हो)। इसी प्रकार संयति-हितकारी मुनि अपने समान सभी प्राणियों को देखें।

गारं पि अ आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समया सव्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छे स लोगयं ॥१३॥

घर में बसता हुआ पुरुष भी क्रमशः प्राणियों में संयम करे। सर्वत्र समभाव रक्खे। वह उत्तम व्रती देवलोक में जाते हैं।

सोच्चा भगवाणुसासणं, सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं।
सवत्थ विणीयमच्छरे, उंछं भिक्खु विसुद्धमाहरे ॥१४॥

भगवान के आगम सुनकर, जिसे सत्य मार्ग पर श्रद्धा हुई हो वह संयम में आगे बढ़े। वह भिक्षु बन कर, और कपट का त्याग करके सर्वत्र विशुद्ध भिक्षा को प्राप्त करे।

सव्वं नच्चा अहिट्ठए, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।
गुत्ते जुत्ते सया जए, आय परे परमायतट्ठिते ॥१५॥

धर्मार्थी सब तत्त्वों को जानकर, आचरण करें-तप करने में शक्ति बढ़ाए। गुप्ति (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति पर अंकुश) से युक्त होकर, और परमार्थ प्राप्ति में स्थिर होकर, स्व पर में यत्ना से रहे।

वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नइ ।
एते मम तेसुवी अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई ॥१६॥

मन्द जीव धन-पशु और सजातीय को अपना शरण मानते हैं—'ये मेरे हैं और मैं इनका हूं—' यह मानते हैं । पर वे न शरण हैं और न रक्षक हैं ।

अब्भागमितंमि वा दुहे, अहवा उक्कमिते भवंतिए ।
एगस्स गती य आगती, विदुमंता सरणं ण मन्नई ॥१७॥

दुःख आने पर अथवा अकाल मृत्यु होने पर या अन्तकाल होने पर जीव अकेला ही कष्ट भोगता है और जाता-आता है । अतः दूसरे को शरण नहीं मानते हैं ।

सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो ।
हिंडंति भयाउला सढा, जाइजरा मरणेहिऽभिदुता ॥१८॥

सभी प्राणी नाना कर्मों से बन्धे हुए हैं और गुप्त दुःख से भयाकुल होकर और जन्म-जरा और मृत्यु से द्रवित होकर वे शठ भ्रमण करते रहते हैं । अतः—

इणमेव खणं विजाणियां, नो सुलभं बोहिं च आहियं ।
एवं सहिएऽहिपासए, आह जिणो इणमेव सेसगा ॥१९॥

यही अवसर योग्य समझो, क्योंकि बोधि=सक्रिय ज्ञान की प्राप्ति सरल नहीं है—' कल्याण की इच्छा वाला मुनि इस प्रकार विचार करे, सभी जिनों-वीतरागों का एक ही उपदेश है ।

अभविंसु पुरावि भिक्खुवो, आएसावि भवंति सुव्वता ।
एयाइं गुणाइं आहु ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ।२०।

हे भिक्षुओं ! पूर्व काल में जितने जिन हुए हैं और भविष्य काल में जितने जिन होंगे और काश्यप (ऋषभदेव और महावीर प्रभु) के अनुयायियों का यह कथन है कि–'इन गुणों को धारण करो—'

तिविहेण वि पाण मा हणे, आयहिते अणियाण संवुडे ।
एवं सिद्धा अणंतसो, संपइ जे अ अणागयावरे ॥२१॥

मन, वचन और काया से प्राणियों की हिंसा मत करो । आत्म-कल्याण के लिये उद्यत बनो । फल की इच्छा के विना संयमी वनो । इसी आचरण से अनन्त प्राणी सिद्ध हुए हैं, कई प्राणी अभी भी सिद्ध होते हैं और आगे भी अनन्त प्राणी सिद्ध होंगे ।

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी. अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाण दंसणधरे । अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ॥
॥ त्ति वेमी ॥२२॥

इस प्रकार अनुत्तर ज्ञानी=जिनसे वढ़कर कोई ज्ञानी नहीं है, अनुत्तरदर्शी=जिनसे वढ़कर कोई तत्त्ववेत्ता नहीं है, और अनुत्तर–ज्ञान दर्शनधर=जिनसे वढ़कर कोई ज्ञानी-द्रष्टा नहीं हैं, उन पूज्य ज्ञातपुत्र भगवान् वैशालिक (महावीर) ने

कहा है । ऐसा मैं कहता हूं ।

※ इति तीसरा उद्देशक ※

—: दूसरा अध्ययन समाप्त :—



तीसरा अध्ययन

[उपसर्ग=विघ्न]

साधना मार्ग में अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं । कई विघ्न दूसरों के द्वारा होते हैं तो कई स्वयं के शिथिल निश्चय से उत्पन्न होते हैं । कई मन को फुसलाने वाले लुभावने विघ्न होते हैं तो कोई मन, वचन और काया को मथ देने वाले, मर्मान्त पीड़ा पहुंचाने वाले होते हैं । उन विघ्नों पर विजय पाने के लिये उनका ज्ञान, दृढ़ निश्चय और ध्येय के प्रति पूरी लगन होना चाहिये और आत्म शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न होना चाहिए । इस अध्ययन में उन उपसर्गों का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

पहला उद्देशक

सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सती ।
जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपालो व महारहं ॥१॥

कायर पुरुप तब तक अपने को योद्धा वीर मानता है जब तक कि उसे विजयी पुरुष के दर्शन नहीं होते । जिस प्रकार कि शिशुपाल अपने को अजेय मानता था–जबतक कि युद्ध में झूझने वाले दृढ़ धर्मी महारथी कृष्ण को नहीं देखे थे ।

पयाता सूरा रणसीसे, संगामम्मि उवट्ठिते ।
माया पुत्तं न याणाइ, जेएण परिविच्छए ॥२॥

युद्ध में शूर कहलाने वाले आगे आ जाते हैं । वे संग्राम होने पर, जिसमें कि माता अपने पुत्र को भी न पहचान पाती उसमें शत्रुओं के हाथ से घायल हो जाते हैं ।

एवं सेहे वि अप्पुट्ठे, भिक्खायरिया अकोविए ।
सूरं मण्णति अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए ॥३॥

इसी प्रकार भिक्षाचरी में अकुशल और विघ्न से रहित नया साधक तब तक अपने को शूर समझता है जबतक कि वह रूखे–कठोर संयम का सेवन नहीं करता ।

जया हेमंत मासम्मि, सीयं फुसइ सव्वगं ।
तत्थ मंदा विसीयंति, रज्जहीणाव खत्तिया ॥४॥

जब हेमन्त ऋतु के महिने (पोप महिने) में सर्वांग मे ठंडी लगती है तब वह (अपने को शूर समझने वाले) मंद, राज्य हीन क्षत्रिय के समान दुःखी होते हैं ।

पुट्ठे गिम्हाहितावेणं, विमणे सुपिवासिए ।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥५॥

गर्मी में तीव्र धूप से उदास और प्यासे होकर, अल्प पानी में जिस प्रकार मच्छ दुःखी होते हैं उसी प्रकार वह मंद दुःखित होता है।

सदा दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोल्लिया।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहंसु पुढोजणा ॥ ६ ॥

दूसरे की दी हुई वस्तु की एषणा करने में सदा दुःख होता है। याचना—भिक्षावृत्ति दुःसह्य है। इस पर भी लोग साधु को देखकर कहते हैं—"दुर्भोगी अपने कर्म का फल भोग रहे हैं।"

एते सद्दे अचायंता, गामेसु णगरेसु वा।
तत्थ मंदा विसीयंति, संगामम्मि व भीरुया ॥७॥

उपर्युक्त शब्दों को, ग्राम,या नगर में सुनकर सह नहीं सकते और संग्राम में डरपोक के समान वे मंद वहां दुःखित होते हैं।

अप्पेगे खुधियं भिक्खुं, सुणी डंसति लूसए।
तत्थ मंदा विसीयंति, तेजपुट्ठा व पाणिणो ॥८॥

भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए साधु को कोई कुत्तादि क्रूर प्राणी काटता है तो उस समय अल्पज्ञ मुनि आग से जले हुए प्राणियों के समान दुःखी हो जाते हैं।

अप्पेगे पडिभासंति, पडि-पंथिय-मागता।
पडियारगता एते, जे एते एव जीविणो ॥९॥

अप्पेगे वइ जुंजति, नगिणा पिंडोलगाहमा ।
मुंडा कंडू विणट्टंगा, उज्जला असमाहिता ॥१०॥

कोई विरोधी साधु को देखकर कहते हैं—"ये नि-ठल्ले हैं, इनका जीवन व्यर्थ है" या "जो इस प्रकार जी रहे हैं वे अपने पूर्व कर्म का फल भोग रहे हैं।"

तो कोई दूसरे कहते हैं—"ए नंगे !" "हराम खाऊ !" "अधम !" "मुंडके !" "खसियल !" "हीनांग !" "गंदे !" "वदसूरत !"

एवं विप्पडिवन्नेगे, अप्पणा उ अजाणया ।
तमाओ ते तमं जंति, मंदा मोहेण पाउडा ।११।

इस प्रकार सुनकर, जो आत्मा से अनजान हैं, वे सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं अथवा क्रोधित हो जाते हैं। वे मन्द पुरुष मोह से अभिभत=ढके हैं और वे अन्धकार से अन्धकार की ओर जा रहे हैं।

पुट्ठो य दंसमसएहिं, तण-फास-मचाइया ।
न मे दिट्ठे परे लोए, जइ परं मरणं सिया ।१२।

जब मच्छरादि काटते हैं, तृणादि चूभते हैं और परिषह-कष्ट असह्य हो जाता है तब (उसकी श्रद्धा डोलने लगती है और) वह सोचने लगता है—'परलोक तो मैंने नहीं देखा है और सचमुच में यदि मरण ही अन्तिम हो अर्थात् जीवन का छोर हो तो !'

संतत्ता केसलोएणं, बंभचेर—पराइया ।
तत्थ मंदा विसीयंती, मच्छा विट्टा व केयणे ॥१३॥

केश लोंच से सन्तप्त और ब्रह्मचर्य से पराजित, दीक्षित मन्द पुरुष जाल में फँसे हुए मच्छों की तरह दुःखी होते हैं ।

आयदण्डसमायरे, मिच्छासंठिय भावणा ।
हरिस-प्पओस-मावन्ना, केई लूसंतिऽनारिया ॥१४॥

आत्म-पीड़क आचरण वाले, विपरीत विचार वाले और राग-द्वेष से युक्त कई अनार्य पुरुष, साधुओं को (वृथा, कुतूहल-वश) पीड़ित करते हैं ।

अप्पेगे पलियंतेसिं, चारो चारोत्ति सुव्वयं ।
बंधंति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥१५॥
तत्थ दण्डेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा ।
नातीणं सरती बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ।१६।

कोई साधु विचरते हुए सीमान्त प्रदेश में पहुंच जाते हैं, तब सीमा रक्षक अज्ञ पुरुष साधु को चोर या जासूस समझ कर, बांध देते हैं और कटु वचनों से उस भिक्षु की भर्त्सना करते हैं ।

वहां डण्डे, मुक्के या शस्त्र से ताड़ित होने पर, कई पामर भिक्षु अपने बन्धु-बान्धवों को याद करता है जिस प्रकार कि क्रोध से घर छोड़कर चली जाने वाली स्त्री अपने पति आदि को याद करती है ।

एते भो कसिणे फासा, फरुसा दुरहियासया।
हत्थी वा सरसंवित्ता, कीवा वस गया गिहं। त्ति वेमि।

हे शिष्य ! ये सभी उपसर्ग=दुःख कठोर और असह्य हैं। हीनबली पुरुष, संग्राम में वाण से घबरा कर पीछे भागने वाले हाथी के समान, कष्टों से विवश होकर, वापिस गृही बन जाते हैं। ऐसा मैं कहता हूं।

※ इति पहला उद्देशक ※



दूसरा उद्देशक

अहिमे सहुमा संगा, भिक्खुणं जे दुरुत्तरा।
जत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए ॥१॥

ये स्नेहादि सम्बन्ध सूक्ष्म हैं, जिनसे भिक्षु कठिनाई से पार हो सकते हैं और कई उनको सहन नहीं कर सकते हैं अतः संयम मार्ग ग्रहण नहीं कर पाते और दुःखी होते हैं।

अप्पेगे नायओ दिस्स, रोयंति परिवारिया।
पोस णे ताय! पुट्ठोऽसि, कस्स ताय! जहासि णे।२।

किसी को संयम के लिये उद्यत देखकर, उसके बन्धु वान्धव उसके पास इकट्ठे होकर रोते हैं और कहते हैं—'हे तात! तू हमारा पालन कर! हमने तुझे पाला है। तात! तू हमें किस लिये छोड़ता है।

पिया ते थेरओ ताय ! ससा ते खुड्डिया इमा ।
भायरो ते सगा ताय ! सोयरा किं जहासि णे ॥३॥

'हे तात ! तेरे पिता बूढ़े हैं । यह तेरी बहिन छोटी है। ये तुम्हारे सहोदर भाई हैं । हे तात ! हमें क्यों छोड़ते हो ?

मायरं पियरं पोस, एवं लोगो भविस्सति ।
एवं खु लोइयं ताय ! जे पालंति य मायरं ॥४॥

तुम माता-पिता का पालन करो । इस प्रकार तुम्हारे इहलोक — परलोक दोनों बनेंगे । तात् ! जगत् भर का यह आचरण है, वे माता-पिता का पालन करते ।

उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता ते ताय ! खुड्डाया ।
भारिया ते णवा ताय ! मा सा अन्नं जणं गमे ॥५॥
एहि ताय ! घरं जामो, माय कम्म सहा वयं ।
बितियं पि ताय ! पासामो, जामु ताव सयं गिहं ।६।

हे तात ! आओ, घर चलें । तुम कुछ भी मत करना, हम सब कर लेंगे, और सब देख लेंगे । अतः चलो, अपने घर चलें ।

हे तात ! तुम्हारे अच्छे व तुतलाकर मीठे बोलने-वाले बेटे छोटे हैं !.... (तुम्हारा विवाह अभी हुआ है) वह तुम्हारी नववधू कहीं पर पुरुष के साथ न चली जाय ।

गंतु ताय ! पुणो गच्छे, ण तेणासमणो सिया ।
अकामगं परिक्कमं, को ते वारेउ-मरिहति ॥७॥

हे तात ? (चलो तो सही) जाकर पुनः आ जाना ।

इससे तुम असाधु तो नहीं हो सकते। अरे! विना वासना के काम करने को कौन तुम्हें रोक सकता है? अथवा निष्काम कर्म करने वाले के उत्थान में कौन रोड़ा वन सकता है?

जं किंचि अणगं तात! तं पि सव्वं समीकतं।
हिरण्णं ववहाराइ, तं पि दाहामु ते वयं ॥८॥

हे तात! जो कुछ तुम पर ऋण था, उसे हमने वरावर वांट लिया है और तुम्हें व्यापार के लिये जितने भी धन की जरूरत होगी, वह भी हम देंगे।

इच्चेव णं सुसेहंति, कालुणीय-समुट्ठिया।
विबद्धो नाइसंगेहिं, तओऽगारं पहावइ।९।

इस प्रकार वन्धु-वान्धव करुण होकर, संयम में उद्यत पुरुष को सीख देते हैं और कच्चे संकल्प वाले पुरुष, वन्धुओं के साथ स्नेह से वन्धकर, वापिस घर की ओर दौड़ जाते हैं।

जहा रुक्खं वणे जायं, मालुया पडिबंधई।
एवं णं पडिबंधंति, णातओ असमाहिणा।१०।

और फिर वन्धु-वान्धव उसे असन्तोष-असंयम से इस प्रकार कस लेते हैं जिस प्रकार कि वन में उत्पन्न होने वाले पेड़ों को लता वांध लेती है।

विबद्धो नातिसंगेहिं, हत्थी वा वि नवग्गहे।
पिट्ठतो परिसप्पन्ति, सुय गो व्व अदूरए ॥११॥

जव वह वंधुओं के स्नेह में वंध जाता है तव वे उसे पकड़े हुए नये हाथी के समान रखते हैं और वे उसको सदा चारों

ओर से इस प्रकार घेरे रहते हैं कि जिस प्रकार कि गाय अपने अभी जन्मे हुए वच्चे को नहीं छोड़ती।

एते संगा मणूसाणं, पाताला व अतारिमा।
कीवा जत्थ य किस्संति, नाइ संगेहिं मुच्छिया ॥१२॥

इस प्रकार सत्त्व-हीन=आत्मवल से रहित पुरुष, इन मनुष्यों के अतल सागर के समान स्नेह-सम्वन्धों से पार नहीं हो सकते हैं और वन्धुओं के संग से आसक्त होकर दुःखी होते हैं।

तं च भिक्खु परिन्नाय, सव्वे संगा महासवा।
जीवियं नावकंखिज्जा, सोच्चा धम्म-मणुत्तरं ॥१३॥

भिक्षु अनुत्तर धर्म को सुनकर, सभी स्नेह-सम्वन्धों को महा आश्रव समझकर उन्हें त्याग दे। जीवन के वदले भी संग को न चाहे।

अहिमे संति आवट्टा, कासवेणं पवेइया।
बुद्धा जत्थावसप्पंति. सीयंति अबुहा जहिं ॥१४॥

काश्यप महावीर प्रभु ने इन संगों को आवर्त्त=चक्र=भँवर कहा है। ज्ञानी तो उससे दूर हो जाते हैं और अज्ञानी उसमें पड़कर दुःख पाते हैं।

रायाणो रायऽमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया।
निमंतयंति भोगेहिं, भिक्खुयं साहु जीविणं ॥१५॥

राजा, राजमंत्री, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय, उत्तम जीवन जीने वाले भिक्षुक को भोग-भोगने के लिये निमंत्रित करते हैं।

"हत्थऽस्स रह जाणेहिं, विहार-गमणेहि य ।
भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी पूजयामु तं" ॥१६॥

वे कहते हैं—"हे महर्षि ! आप इन हाथी, घोड़े, रथ या यान में वैठें । आप मानसिक खेद दूर करने के लिये विहार=क्रीडा स्थल या उद्यानादि में चलें । आप इन प्रशंसनीय भोगों को भोगें । हम आपकी पूजा करते हैं ।"

"वत्थ-गंध-मलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।
भुंजाहिमाइं भोगाइं, आउसो ! पूजयामु तं" ॥१७॥

"हे आयुष्यमान ! आप वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री और शय्या इन भोगों को भोगें । हम आपकी पूजा करते हैं अर्थात यह हमारी पूजा-सामग्री स्वीकार करिये ।"

"जो तुमे नियमो चिण्णो, भिक्खु भावम्मि सुव्वया ।
अगार-मावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा" ॥ १८ ॥

"हे सुन्दर व्रतधारी ! तुमने भिक्षु भाव में अन्तःकरण से संयम में जिन नियमों का आचरण किया है वे सभी अव घर में वसने पर भी ज्यों के त्यों रहेगें (क्योंकि अन्तःकरण से सर्वदा आचरण करने के कारण वे आपके स्वभाव वन गये हैं या आप उग्र सदाचरण से पवित्र वन गये हैं ।

"चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणिं कुतो तव ?" ।
इच्चेव णं निमंतेंति, नीवारेण व सूयरं ॥ १९ ॥

"चिरकाल तक सदाचरण के कारण पवित्र वने हुए आपको अब दोष कैसा ?"—इस प्रकार वे साधु को भोगों के

लिये निमन्त्रण देते हैं—जैसे कि व्याध धान=शालि को बिखेर कर सूअर को।

चोइया भिक्खाचरियाए, अचयंता जवित्तए।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि व दुब्बला ॥२०॥

इस प्रकार उन पुरुषों से प्रेरित होकर, भिक्षु की चर्य्या के पालने में असमर्थ साधु, उन भोगों को भोगने का निमंत्रण पाकर, ऐसे दुःखी होता है. जैसे कि घाटियों के चढ़ाव में दुर्बल बैल दुःखी होते हैं।

अचयंता व लूहेणं, उवहाणेण तज्जिया।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा ॥२१॥

संयम से ऊबे हुए और तप से पीड़ित साधु, भोगों को भोगने का निमंत्रण पाकर, ऐसे दुःखी होता है जैसे कि घाटियों के चढ़ाव में बोझ ढोने वाले बूढे बैल दुःखी होते हैं।

एवं निमंतणं लद्धुं, मुच्छिया गिद्ध इत्थीसु।
अज्झोववन्ना कामेहिं, चोइज्जंता गया गिहं॥ त्ति बेमि॥

इस प्रकार भोगोपभोग के लिए निमन्त्रण पाकर और इससे प्रेरित होकर, आसक्त, स्त्रियों में मोहित पुरुष काम गुणों में दत्तचित्त होकर गृही बन जाते हैं। ऐसा मैं कहता हूं—

* इति दूसरा उद्देशक *



तीसरा उद्देशक

जहा संगाम कालम्मि, पिट्ठतो भीरु वेहइ ।
वलयं गहणं णूमं, को जाणइ पराजयं ॥१॥
मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होइ तारिसो ।
पराजियाऽवसप्पामो, इति भीरू उवेहई ॥२॥
एवं तु समणा एगे, अबलं नच्चाणं अप्पगं ।
अणागयं भयं दिस्स, अवकप्पंतिमं सुयं ॥३॥
को जाणइ विऊवातं, इत्थीओ उदगाउ वा ।
चोइज्जंता पवक्खामो, ण णो अत्थिपकप्पियं ॥४॥

जैसे संग्राम के समय में कायर पुरुष, छिपे हुए गहन गड्ढे को, यह सोचते हुए, खोजता है कि—"हार-जीत कौन जानता है ।"

और वह डरपोक इस प्रकार सोचता है—"क्या मालूम ? किस समय ऐसा अवसर आ जाय कि हारकर हमें पीछे भागना पड़े ।"

वैसे ही कई श्रमण अपने को कमजोर मानकर, अनागत=भविष्य के भय को देखते हैं और तब वे इस श्रुत=शास्त्र-ज्ञान को निर्वाह के साधन रूप में अपनाते हैं ।

और वे सोचते हैं—'कौन जानता है—स्त्री और जल-परिषह का शिकार हो जाऊं और मेरे पास पूर्व-उपार्जित निर्वाह के साधन भी नहीं है । अतः अपने निर्वाह के लिये

किसी के द्वारा श्रम के लिये प्रेरित किये जाने पर इस ज्योतिष, वैद्यक, साहित्य आदि विद्या का सहारा ले लेंगे।

इच्चेव पडिलेहंति, वलया पडिलेहिणो।
वितिगिच्छ समावन्ना, पंथाणं च अकोविया ॥५॥

इस प्रकार ढीले निश्चयवाले और सन्मार्ग से अनजान पुरुष, युद्ध में सुरक्षित स्थान देखने वाले डरपोक नर के समान, आजीविका का साधन खोजते रहते हैं।

जे उ संगामकालम्मि, नाया सूरपुरङ्गमा।
णो ते पिट्ठ मुवेहिंति, किं परं मरणं सिया ॥६॥
एवं समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जाऽगार-बंधणं।
आरंभं तिरियं कट्टु, अत्तत्ताए परिव्वए ॥७॥

जो वीरों में अग्रेसर है और युद्ध-कौशल का ज्ञाता है, वह युद्ध के समय में अपनी रक्षा के लिये पीछे नजर नहीं करता है, वह जानता है—मौत के सिवाय अर्थात् देह नाश के सिवाय और क्या होगा?

इसी प्रकार जो भिक्षु, घर आदि के बन्धन को छोड़ कर और आरम्भ को त्याग कर, संयम में उद्यत हुआ है, वह अपनेपन की प्राप्ति के लिये शुद्ध संयम में स्थिर रहे।

तमेगे परिभासंति, भिक्खूयं साहु-जीविणं।
जे एवं परिभासंति, अंतए ते समाहिए ॥८॥

कई पुरुष, श्रेष्ठ जीवी भिक्षु को कहते हैं—(वे जो कहते हैं, वह आत्म-संतोष को नष्ट कर देता है।)—

नहीं हुई है।'

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, अचयंता जवित्तए ।
ततो वायं णिराकिच्चा, ते भुज्जो वि पगब्भिया ।१७।

सभी युक्तियों से पार पाने में असमर्थ लोग संवाद के नियमों को छोड़कर, वार-वार अंट संट बोलने लगते हैं।

राग दोसाऽभिभूयप्पा, मिच्छत्तेण अभिद्दुता ।
आउसे सरणं जंति; टंकणा इव पव्वयं ॥१८॥

राग द्वेष से जिनकी आत्मा ढँकी हुई है और जो मिथ्यात्त्व के प्रवाह में वह रहे हैं, वे निरुत्तर होकर आक्रोश की शरण में जाते हैं, जैसे कि पहाड़ी अनार्य हारकर पहाड़ों का आश्रय लेते हैं।

बहुगुणप्पगप्पाइं, कुज्जा अत्तसमाहिए ।
जेणऽन्ने णो विरुज्झेज्जा, तेण तं तं समायरे ।१९।

उस समय भिक्षु, अपने को शान्त रखकर, उत्तम गुणों को देनेवाले सिद्धान्तानुकूल वचनों का प्रयोग करे। जिससे अन्य=तटस्थ या कोई भी पुरुष विरोधी=शत्रु न वन जाय, वैसा आचरण वह करे।

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइयं ।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥२०॥

काश्यप भगवान महावीर के कहे हुए इस धर्म को ग्रहण करके, हे भिक्षु! ग्लान साधु की विना घृणा से प्रसन्न होकर सेवा करें।

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे ।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जाऽसि ॥
॥ त्ति बेमि ॥ २१ ॥

सर्वांग-पूर्ण धर्म को जानकर, सम-दृष्टि भिक्षु राग द्वेष से रहित, विघ्नों पर नियन्त्रण करता हुआ अर्थात् उपसर्ग सहता हुआ, जहां तक मुक्त न हो जाय, वहां तक संयम को पालता रहे। ऐसा मैं कहता हूं।

* इति तीसरा उद्देशक *



चौथा उद्देशक

आहंसु महापुरिसा, पुव्विं तत्त-तवोधणा ।
उदएण सिद्धि मावन्ना, तत्थ मंदो विसीयति ॥१॥

कोई कहता है—'पहले कई उग्र तपोधन महापुरुष, सचित्त पान-भोजन करते हुए सिद्ध हुए हैं।' तब कच्चे मन वाला साधु संयम से दुःखी होता है।

अभुंजिया नमी विदेही, रामगुत्ते य भुंजिया ।
बाहुए उदगं भोच्चा, तहा नारायणे रिसी ॥२॥
आसिले देविले चेव, दीवायण महारिसी ।
पारासरे दगं भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य ॥३॥

एते पुव्वं महापुरिसा, आहिता इह संमता ।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा, इति मेयमणुस्सुअं ।।४।।

कोई कहते हैं—'विदेह के नमिराज ने अनशन करके रामगुप्त ने सदा आहार करके, बाहुक और नारायण ऋषि ने कच्चा जलपान करके—

असित, देवल, द्वैपायन महर्षि और पाराशर ने सचित्त जल पीकर और कन्दमूल खाकर सिद्धि प्राप्त की है।

ये प्रसिद्ध महापुरुष, जिनमें से कइयों को आप भी मानते हैं, कन्दमूल खाकर और ठण्ढा जल पीकर सिद्ध हुए हैं—ऐसा मैंने सुना है।'

तत्थ मंदा विसीयंति, वाह-छिन्ना व गद्दभा ।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पिट्ठसप्पी य संभमे ।।५।।

यह सुनकर मन्द बुद्धि भिक्षु संयम-पालने से इस प्रकार खेदित होते हैं जैसे कि बोझ से गधा पीड़ित होता है। इस प्रकार संयम पालने में वे पीछे पड़ जाते हैं और संयम मे पिछड़े हुए भिक्षु, विषय-चक्र में फंस जाते हैं।

इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती ।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहिए(यं) ।६।
मा एयं अवमन्नंता, अप्पेणं लुम्पहा वहुं ।
एतस्स(उ) अमोक्खाए, अओ हारिव्व जूरह ।७।

कई कहते हैं—'सुख से सुख मिलता है।' यह सुनकर अनुत्तर, संयम मय आर्य मार्ग का—६—

तिरस्कार मत करो। जो इस मार्ग का तिरस्कार करते हैं वे थोड़े के लिये वहुत-सा नष्ट कर देते हैं। इस (सुख से सुख-प्राप्ति के मार्ग को) अमुक्ति-मार्ग को स्वीकार, करके लोहे को नहीं छोड़ने वाले वनिये के समान पछताओगे। -७-

पाणाइवाते वट्टंता, मुसावादे असंजता।
अदिन्नादाणे वट्टंता, मेहुणे य परिग्गहे ॥८॥
एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया।
इत्थी वसं गया वाला, जिणसासणपरंमुहा ॥९॥

हिंसक, झूठ बोलने में असंयमी, अदत्त को लेने वाले मैथुन में रत और परिग्रह में डूबे हुए।

कर्त्तव्य में शिथिल, अनार्य और वीतराग के शासन से विपरीत=राग द्वेष को धर्म मानने वाले मंद, स्त्रियों के वशीभूत होकर कहते हैं—

जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ? ॥१०॥

'जैसे फोडे-फुंसी को दबाकर, मवाद निकाल देने के वाद, थोड़ी देर में पीड़ा नष्ट हो जाती है, वैसे ही समागम की इच्छा वाली स्त्री की इच्छा शान्त करने में क्या दोष है।'

जहा मंधादणे नाम, थिमियं भुंजती दगं।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया।११।

'जैसे भेड़ जल को हिलाये विना अर्थात् किसी जीव को कष्ट पहुंचाएं विना जल पीती हैं वैसे ही कामी स्त्री पुरुषों

की काम-वासना शान्त करने मे क्या दोष है ?'

जहा विहंगमा पिंगा, थिमिअं भुंजती दगं।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ।१२।

'जैसे पिंग नामक पक्षिणी, जल के किसी जीव को दुःख न हो इस प्रकार जल पीती है, वैसे ही पुरुष स्त्री के काम-पिपासा शान्त करने में क्या दोष है ?'

एवमेगे उ पासत्था, मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणा इव तरुणए ।१३।

इस प्रकार कहने वाले, इच्छा में बन्धे हुए, विपरीत दृष्टि वाले अनार्य पुरुष, काम भोगों में अपने को इस प्रकार छोड़ देते हैं, जिस प्रकार भेड़ अपने बच्चे पर आसक्त रहती है या पूतना डाकिनी बच्चों पर आसक्त थी।

अणागय-मपस्संता, पच्चुप्पन्न-गवेसगा ।
ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउंमि जोव्वणे ।१४।

इस प्रकार जो भविष्य की ओर नहीं देखते हैं और वर्तमान में ही सब कुछ खोजते हैं, वे जवानी और उम्र बीत जाने पर, बाद मे पछताते हैं।

जेहिं काले परिक्कंतं, न पच्छा परितप्पए ।
ते धीरा बंधणमुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥१५॥

जो परिग्रह और आरम्भादि बन्धनों से मुक्त हैं— वे जीने की अथवा वर्तमान में सुख से जीने की और भविष्य मे इससे भी सुखमय जीवन पाने की इच्छा नहीं करते हैं।

परन्तु यथा-समय अथवा हर समय मोक्ष के लिये पराक्रम=मह-नत करते हैं, अतः उन्हें बाद में पछतावा नहीं होता। (बल्कि अपने जीवन के सदुपयोग का सन्तोष रहता है अथवा मोक्ष की ओर ही बढ़ते हैं)।

जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमता ।
एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया ॥१६॥

जैसे वैतरणी नदी दुस्तर है वैसे ही अवेकियों के लिये लोक में नारियां दुस्तर हैं। अर्थात् बाह्य सुखाभिलाषी पुरुषों का मन इतना कमजोर होता है कि वे मन को अपने वश में रख नहीं सकते और वे ऐसे कच्चे मन को लेकर, आकर्षण विकर्षण में डुलते रहते हैं।

जेहिं नारीण संजोगा, पूणया पिट्ठतो कता ।
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥१७॥

जिसने स्त्री-संसर्ग और साज-सिंगार छोड़ दिये हैं, वह सभी विघ्नों को परास्त करके, उत्तम समाधि में स्थिर रहता है।

एते ओघं तरिस्संति, समुद्दं ववहारिणो ।
जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चंती सयकम्मुणा ॥१८॥

जैसे व्यापारी समुद्र को पार कर जाते हैं, वैसे ही उपसर्ग-जयी पुरुष उस संसार-प्रवाह से पार हो जायंगें, जहां पर प्राणी खुद के कर्मों से दुःखी होकर रहते हैं।

तं च भिक्खू परिण्णाय, सुव्वते समिते चरे ।
मुसावायं च वज्जिज्जा, अदिन्नादाणं च वोसिरे ।१९।

भिक्षु इस प्रकार जानकर, उत्तम ब्रह्मचर्य और समितियां सहित विचरे और मृषावाद, अदत्तादानादि का भी त्याग करे।

उड्ढमहे तिरियं वा, जे केई तस थावरा ।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ।२०।

ऊपर-नीचे-तिरछे, जहां भी जो त्रस स्थावर प्राणी हैं उनकी हिंसा का सर्वथा त्याग कर दे; क्योंकि शान्ति को ही निर्वाण कहा है ।

टिप्पणी—जहां हिंसा है, वहां भय है आकुलता है और एकाग्रता की कमी है। जहां चित्त की अस्त-व्यस्तता है वहां शान्ति का आभास ही हो सकता है। सच्ची शान्ति का तो अभाव ही रहेगा । जहां चित्त अहिंसा पालन से निर्भयादि गुणों की वृद्धि होने पर पूर्ण रूप से एकाग्र हो जाता है, वहीं चित्त-निरोध हो जाता है। अर्थात् मन, वचन और काया के व्यापारों से आत्यन्तिक निवृत्ति होकर, निष्कंप आत्म दशा प्रकट होती है। वही पूर्ण शान्ति है । उस समय दुःख अशान्ति का कोई कारण नहीं रहता, परन्तु अनुपम आत्मा से अभिन्न सुख का आविर्भाव होता है। यही कारण है, सूत्रकार ने शान्ति और निर्वाण की अभेदता का प्रतिपादन किया है।

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदित ।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ।२१।

भगवान् काश्यप के कहे हुए इस धर्म को ग्रहण करके भिक्षु विना घृणा से, ग्लान के संयम में सहायता करे ।

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे ।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ।२२।
॥ त्ति बेमि ॥

इस सर्वांग पूर्ण धर्म को जानकर, समदृष्टि भिक्षु राग-द्वेष से रहित होकर, विघ्नों पर जय करते हुए, जहां तक मुक्त न हो जाय, वहां तक संयम पालता रहे ।

ऐसा मैं कहता हूं —

※ इति चौथा उद्देशक ※

—॥ तीसरा अध्ययन समाप्त ॥—



चौथा अध्ययन

(स्त्री परिज्ञा=स्त्री-प्रसंग-स्वरूप)

पिछले अध्ययन में अनुकूल—प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन किया है, जिसमें अनुकूल उपसर्ग को दुःसह कहा है । अनुकूल उपसर्गों में भी स्त्री-उपसर्ग अति दुःसह है । इसी उपसर्ग का इस अध्ययन में स्वरूप बताकर, उस पर विजय पाने का

जोर दिया है। भिक्षु के लिये स्त्री का उपसर्ग है तो भिक्षुणी के लिये पुरुष का।

पहला उद्देशक

जे मायरं च पियरं च, विप्पजहाय पुव्वसंजोगं।
एगे सहिते चरिस्सामि, आरत-मेहुणो विवित्तेसु ॥१॥
सुहुमेणं तं परिक्कम्म, छन्नपएण इत्थिओ मंदा।
उव्वायं पि ताउ जाणंसु, जहा लिस्संति भिक्खुणो एगे ।२।

(कोई सोचते हैं) 'मैं माता-पिता और संसारियों का स्नेह सम्बन्ध छोड़कर, संयम-सहित होकर और विषय-वासना से रहित होकर, एकाकी एकान्त स्थलों में विचरूँगा।'

मंद स्त्रियां उस भिक्षु को भी छल-कपट से संयम भ्रष्ट कर देती हैं। क्योंकि वे किसी भिक्षु को कैसे वश में करना चाहिए, वह उपाय जानती हैं।

पासे भिसं णिसीयंति, अभिक्खणं पोसवत्थं परिहिंति।
कायं अहे वि दंसंति, बाहू उद्धट्टु कक्खमणुव्वजे ॥३॥

वे कुल्टा स्त्रियां साधु के अत्यन्त निकट आकर बैठती हैं और भड़कीले काम-वर्धक वस्त्रों को जान-बूझकर ढीले छोड़ कर, बार-बार पहनने का ढोंग रचा करती हैं। नीचला अंग भी पूरा नहीं ढँकतीं और किसी भी बहाने भुजाओं को उठाकर कांख दिखाती हैं।

सयणासणेहिं जोगेहिं, इत्थिओ एगता णिमंतंति ।
एयाणि चेव से जाणे, पसाणि विरूवरूवाणि ॥४॥

किसी समय स्त्रियां, उपभोग योग्य पलङ्ग-आसन आदि पर वैठने के लिये निमन्त्रण देती हैं। परन्तु भिक्षु को इन्हें नाना प्रकार के वन्धन समझना चाहिये।

नो तासु चक्खु संधेज्जा, नो वि य साहसं समभिजाणे।
णो सहियं पि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ॥५॥

भिक्षु उन पर आंखे न डाले, और न दुष्कृत्य करना स्वीकार करे तथा उनका सहवास भी न करे। इस प्रकार साधु आत्म-रक्षा कर सकता है।

आमंतिय उस्सविया, भिक्खुं आयसा निमंतंति ।
एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि ॥६॥

भिक्षु को विश्वास देकर और आमन्त्रण देकर, उन्मार्ग गामिनी-स्त्रियां अपने साथ भोग भोगने का निमन्त्रण देती हैं- प्रार्थना करती हैं। परन्तु भिक्षु उन शब्दों को बुरे समझें।

मण-बंधणेहिं णेगेहिं, कलुण-विणीय-मुवगसित्ताणं।
अदु मंजुलाइं भासंति, आणवयंति भिन्नकहाहिं ॥ ७॥

वे स्त्रियां साधु का, मन अपनी ओर खींचने के लिये अनेक उपाय करती हैं। वे विनीत और करुण होकर आती हैं या मधुर भाषण करती हैं और काम-कथा के द्वारा साधु को विषय की ओर खींच लेती हैं।

सीहं जहा व कुणिमेणं, निब्भयमेग चरंति पासेणं ।
एवित्थियाउ बंधंति संवुडं, एगतिय-मणगारं ॥८॥

जिस प्रकार एकाकी निर्भय विचरने वाले सिंह को मांस के जरिये जाल में फँसा लिया जाता है उसी प्रकार एकाकी विचरने वाले संयमी अणगार को, स्त्रियाँ अपने मोह जाल में फांस लेती हैं ।

अह तत्थ पुणो णमयंति, रहकारो व णेमि आणुपुव्वीए ।
बद्धे मिए व पासेणं, फंदंते वि ण मुच्चए ताहे ॥ ९ ॥

जिस प्रकार रथकार पहिये की नेमि (पाटे) को क्रमशः झुकाता है, उसी प्रकार स्त्रियां साधु को अपने अनुकूल बना लेती हैं और इसके बाद साधु, बंधे हुए मृग के उछलने कूदने के समान, उनसे दूर होने का प्रयत्न करे तो भी उनसे मुक्त नहीं हो पाता ।

अह सेऽणुतप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं ।
एवं विवेग मादाय, संवासो नवि कप्पए दविए ॥१०॥

तब वह, विष मिश्रित खीर खाने वाले की तरह, दुःखित होता है । इस प्रकार विवेक युक्त होकर, साधु स्त्री सहवास से दूर रहे ।

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं नच्चा ।
ओए कुलाणि वसवत्ती, आघाए ण से वि णिग्गंथे ।११।

भिक्षु स्त्री-संग को, विष लिप्त काँटे के समान जानकर, छोड़ दे । किसी के वश में होकर, गृहस्थ के घर

अकेला जाकर, उपदेश देने वाला भिक्षु, निर्ग्रन्थ नहीं है।

जे एयं उंछं अणुगिद्धा, अन्नयरा हुंति कुसीलाणं।
सुतवस्सिए वि से भिक्खू, नो विहरे सह णमित्थीसु ।१२।

जो स्त्री--सहवास के निन्दनीय कर्म में आसक्त हैं वे कुशील हैं। क्योंकि श्रेष्ठ तपस्वी भी स्त्री--संग से भ्रस्ट हो जाते हैं। अतः भिक्षु स्त्री,,सहवास न करे।

अवि धूयराहि सुण्हाहिं, धातीहिं अदुव दासीहिं।
महतीहिं वा कुमारीहिं, संथवं से न कुज्जा अणगारे ।१३।

चाहे बेटी, बेटे की बहू, धाय या दासी हो, किसी भी बडी स्त्री वा कुमारी का, अणगार सहवास न करे।

अदु णाइणं च सुहीणं वा, अप्पियं दट्ठु एगता होइ।
गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खण-पोसणे मणुस्सोऽसि ॥१४॥

क्योंकि स्त्री के साथ किसी समय भिक्षु को देखकर उसके सजातीय और कुटुम्बियों को बुरा लगता है। (वे सोचने लगते हैं।)—'यह साधु भी साधारण प्राणियों की तरह कामासक्त है'—(और कोई गुस्से से कह बैठता है) 'तू इस स्त्री का पुरुष है तो इसका भरण–पोषण कर या तू इससे इस प्रकार बातें करता है तो क्या तू इसका रक्षण--पोषण करने वाले पुरुष=पति है ?'

समणं पि दट्ठुदासीणं, तत्थ वि ताव एगे कुप्पंति।
अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं, इत्थी दोसं संकिणो होंति ।१५।

स्त्री का कोई स्वजन या पति, उदासीन श्रमण

को भी उसके साथ वार्तालाप करते देखकर अथवा साधु को सरस-सरस भोजन देते देखकर, स्त्री के दूषित होने की शंका करने लग जाते हैं।

टिप्पणी—"भोजणेहिं णत्थेहिं=भोजनैः नार्थैः" इस पद का यह भी अर्थ हो सकता है--"आहार लेते समय फिजूल बात चीत से" या "विना प्रयोजन भोजन के बहाने वारवार आने से या वातचीत करने से।"

कुव्वंति संथवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं ।
तम्हा समणा ण समेंति, आयहियाए सण्णि-सेज्जओ ।१६।

संयम-योग=निरवद्य योग सेवन से जो भ्रष्ट या आकुल हो गये हों, वे ही स्त्रियों से परिचय करते हैं। अतः आत्म-हित के लिये साधु स्त्रियों के समीप न जाए अर्थात् संसर्ग न करे।

बहवे गिहाइं अवहट्टु, मिस्सी भावं पत्थुया य एगे ।
धुवमग्गमेव पवयंति, वाया वीरियं कुसीलाणं ॥१७॥

कई घर छोड़कर, मिश्र भाव (कुछ गृहस्थाचार और कुछ साध्वाचार) धारणकर, कहते हैं—'निरतिमार्ग (मध्यम मार्ग) ही मोक्ष मार्ग है।' कुशीलों का बल, वाणी है अर्थात् अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क से ही या विद्वता दिखाकर ही वे कुशीलता का प्रतिपादन करते। अथवा दुःशील व्यक्ति, अपनी बुराई छिपाने के लिये जोर-शोर से मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन करते हैं।

द्धं रवति परिसाए, अह रहस्संमि दुक्कडं करेंति।
णंति य णं तहाविऊ, माइल्ले महासढेऽयं ति ॥१८॥

जो प्रकट में अपने को अच्छा वताता है और छिपकर कर्म करता है, अंग चेष्टादि के ज्ञाता पुरुष उसे समझ ो हैं कि—'यह मायावी है—महान् शठ है।'

यं दुक्कडं च न वदति, आइट्ठो वि पकत्थति बाले।
याणुवीइ मा कासी, चोइज्जंतो गिलाई से भुज्जो।१९।

वाल मनुष्य पूछने पर भी अपना दुष्कृत स्वयं नहीं ता है, पर अपनी प्रशंसा करता है और आचार्यादि के यह कहे जाने पर—'वेदोदय के अनुकूल कार्य मत करो' वहुत ग्लानि करता है।

ओसियावि इत्थिपोसेसु, पुरिसा इत्थिवेय-खेयन्ना।
पण्णा समन्निता वेगे, नारीणं वसं उवकसंति ॥२०॥

भुक्त भोगी, स्त्री वेद से होने वाले खेदों के जानकार, ई बुद्धिमान त्यागी पुरुष भी पुनः स्त्रियों के वश में हो ते हैं।

अवि हत्थ-पाद-छेदाए, अदुवा वद्ध-मंस-उक्कंते।
अवि तेयसाभितावणाणि, तच्छिय खारसिंचणाइंच ॥२१॥
अदु कण्ण-णासच्छेदं, कंठच्छेदणं तितिक्खंती।
इति इत्थ पाव-संतत्ता, न य विंति पुणो न काहिंति।२२।

पर स्त्री-गमन करने वाले के हाथ-पैर काट दिये जाते हैं, उसकी चमड़ी उधेड़ दी जाती है, उसे जलाया जाता

है और जले पर नमक छिटका जाता है—"

अथवा कान-नाक काट दिये जाते हैं या सिर ही धड़ से जुदा कर दिया जाता है—वह सब सहता है। फिर भी मैथुन पाप से संतप्त यह नहीं कह सकते कि—"मैं पुनः ऐसा नहीं करूंगा।"

सुतमेय-मेव-मेगेसिं, इत्थीवेयत्ति हु सुयक्खायं।
एवं पि ता वदित्ताणं, अदुवा कम्मुणा अव करेंति ॥२३॥

स्त्री-भोग से मिलने वाले इन कड़े दण्डों को जानने पर भी, स्त्री—वेद=काम शास्त्र के ज्ञाता, लोकोक्तियों से भी स्त्री स्वभाव को जानने वाले, 'अव स्त्री संग नहीं करूंगा'—ऐसा कहने पर भी, कई दुष्कर्म करते रहते हैं।

अन्नं मणेण चिंतेंति, वाया अन्नं च कम्मुणा अन्नं।
तम्हा ण सद्दहे भिक्खू, बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा।२४।

और ऐसे पतित विचारते कुछ और हैं, कहते कुछ और हैं और करते कुछ और हैं। अतः भिक्षु स्त्री को माया की जनेता जानकर, स्त्री-संसर्ग में विश्वास न करे।

जुवती समणं बूया, विचित्तलंकार-वत्थगाणी परिहित्ता।
विरता चरिस्सहं रुक्खं, धम्ममाइक्ख णे भयंतारो ॥२५॥

कोई युवती, विचित्र वस्त्रालंकार धारण करके साधु के पास आकर कहे—'हे भय रक्षक ! मैं विरक्त हूं। मैं संयम पालूंगी। आप मुझे धर्म कहिये।'

अदु साविया पवाएणं, अहमंसि साहम्मिणी य समणाणं ।
जतुकुंभे जहा उवज्जोई, संवासे विदू विसीएज्जा ॥२६॥

'अथवा श्राविका होने से मैं श्रमणों की सहधर्मिणी हूं---' यह कहकर स्त्रियां साधु के पास आवे, पर जिस प्रकार अग्नि के समीप लाख का घड़ा पिघलने लगता है उसी प्रकार स्त्री-संसर्ग से विद्वान् भी द्रवित हो जाते हैं।

जतुकुंभे जोइ उवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुवयाइ ।
एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ।७२।

जैसे अग्नि के स्पर्श से तपकर, लाख का घड़ा नष्ट हो जाता है वैसे ही अणगार स्त्री के संसर्ग से संयम-भ्रष्ट हो जाते हैं।

कुव्वंति पावगं कम्मं, पुट्ठा वेगेव-माहिं सु ।
नोऽहं करेमि पावंति, अंकेसाइणी ममेस त्ति ॥२८॥

कोई भिक्षु पाप कर्म करते हुए पकड़े जाते हैं और तब पूछने पर, वे कहते हैं - 'नहीं, मैं पाप नहीं कर रहा था। यह तो मेरी गोद में खेली हुई है। अथवा यह तो मात्र मेरी गोद में सोई थी।'

बालस्स मंदयं बीयं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो ।
दुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामो विसन्नेसी ॥२९ ॥

उस मूर्ख की दूसरी मंदता यह है कि असंयमी होकर भी, अपने सत्कार की इच्छा से, किये हुये पाप कर्म से इनकार करके, दुगना पाप करता है।

है और जले पर नमक छिटका जाता है—"

अथवा कान-नाक काट दिये जाते हैं या सिर ही धड़ से जुदा कर दिया जाता है—वह सव सहता है। फिर भी मैथुन पाप से संतप्त यह नहीं कह सकते कि—"मैं पुनः ऐसा नहीं करूंगा।"

सुतमेय-मेव-मेगेसिं, इत्थीवेयत्ति हु सुयक्खायं ।
एवं पि ता वदित्ताणं, अदुवा कम्मुणा अव करेंति ॥२३॥

स्त्री-भोग से मिलने वाले इन कड़े दण्डों को जानने पर भी, स्त्री—वेद=काम शास्त्र के ज्ञाता, लोकोक्तियों से भी स्त्री स्वभाव को जानने वाले, 'अव स्त्री संग नहीं करूंगा'—ऐसा कहने पर भी, कई दुष्कर्म करते रहते हैं।

अन्नं मणेण चिंतेंति, वाया अन्नं च कम्मुणा अन्नं ।
तम्हा ण सद्दहे भिक्खू, वहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ।२४।

और ऐसे पतित विचारते कुछ और हैं, कहते कुछ और हैं और करते कुछ और हैं। अतः भिक्षु स्त्री को माया की जनेता जानकर, स्त्री-संसर्ग में विश्वास न करे।

जुवती समणं वूया. विचित्तलंकार-वत्थगाणी परिहित्ता ।
विरता चरिस्सहं रुक्खं, धम्ममाइक्ख णे भयंतारो ॥२५॥

कोई युवती, विचित्र वस्त्रालंकार धारण करके साधु के पास आकर कहे—'हे भय रक्षक ! मैं विरक्त हूं। मैं संयम पालूंगी। आप मुझे धर्म कहिये।'

अदु साविया पवाएणं, अहमंसि साहम्मिणी य समणाणं ।
जतुकुंभे जहा उवज्जोई, संवासे विदू विसीएज्जा ॥२६॥

'अथवा श्राविका होने से मैं श्रमणों की सहधर्मिणी हूं—' यह कहकर स्त्रियां साधु के पास आवे, पर जिस प्रकार अग्नि के समीप लाख का घड़ा पिघलने लगता है उसी प्रकार स्त्री-संसर्ग से विद्वान् भी द्रवित हो जाते हैं ।

जतुकुंभे जोइ उवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुवयाइ ।
एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ।७२।

जैसे अग्नि के स्पर्श से तपकर, लाख का घड़ा नष्ट हो जाता है वैसे ही अणगार स्त्री के संसर्ग से संयम-भ्रष्ट हो जाते हैं ।

कुव्वंति पावगं कम्मं, पुट्ठा वेगेव-माहिं सु ।
नोऽहं करेमि पावंति, अंकेसाइणी ममेस त्ति ॥२८॥

कोई भिक्षु पाप कर्म करते हुए पकड़े जाते हैं और तब पूछने पर, वे कहते हैं – 'नहीं, मैं पाप नहीं कर रहा था। यह तो मेरी गोद में खेली हुई है । अथवा यह तो मात्र मेरी गोद में सोई थी ।'

बालस्स मंदयं बीयं. जं च कडं अवजाणई भुज्जो ।
दुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामो विसन्नेसी ॥२९॥

उस मूर्ख की दूसरी मंदता यह है कि असंयमी होकर भी, अपने सत्कार की इच्छा से, किये हुये पाप कर्म से इनकार करके, दुगना पाप करता है ।

संलोकणिज्ज-मणगारं, आयगयं निमंतणेणाहंसु ।
वत्थं च ताइ ! पायं वा, अन्नं पाणगं पडिग्गाहे ॥३०॥

दीखने में सुन्दर, आत्मज्ञानी अणगारको बुलाकर कई स्त्रियाँ कहती हैं—'साधो ! आप इन वस्त्र-पात्र और अन्न-पान को ग्रहण करें ।'

णीवारमेवं बुज्झेज्जा, णो इच्छे आगार-मागंतुं ।
बद्धे विसय-पासेहिं, मोहमावज्जइ पुणो मंदे । त्तिबेमि ।

इस प्रकार के मोहक वचनों से मोहित होकर मंद-अज्ञानी पुरुष ही, विषय जालमें फँसते हैं । अतः स्त्रियों के प्रलोभनों को, पक्षियों को अपने जाल में फँसाने के लिये शिकारी के द्वारा फैलाये गये दानों के समान समझे और गृहवास करने की इच्छा न करें । ऐसा मैं कहता हूं—

* इति पहला उद्देशक *



दूसरा उद्देशक

ओए सदा न रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा ।
भोगे समणाणं सुणेह, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ॥१॥

राग-द्वेष रहित होकर साधु कभी भोग में चित्त न लगावे । कदाचित् मन भोग की ओर चला जाय तो उसे सत्प्रयत्न द्वारा भोग से हटा ले—वैराग्य में रमा ले । 'श्रमणों

का भोग' आश्चर्य पैदा करता है ? पर, कई भिक्षु भोग-भोगते हैं—सुनाता हूं, सुनो !

अह तं तु भेद-मावन्नं, मुच्छितं भिक्खुं काममतिवट्टं ।
पलिभिंदिया णं तो पच्छा, पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति ।२।

जब स्त्री यह जान लेती है कि यह भिक्षु अति आसक्त कामी है और अपने वश में है तब वह कभी असंतुष्ट होकर उसके सिर पर अपने पैर से प्रहार करती है ।

जइ केसिया णं मए, भिक्खू णो विहरे सह णमित्थीए ।
केसाणविह लुंचिस्सं, नन्नत्थ मए चरिज्जासि ॥ ३ ॥

(जब तक भिक्षु स्त्रियों के वश में नहीं होता है तब उनमें से कोई कहती है)—'यदि तुम मुझ केशवाली स्त्री के साथ रहना नहीं चाहते हो तो लो अभी इन बालों को नोंच डालूंगी । अर्थात् तुम भिक्षु हो तो मैं भी भिक्षुणी बन जाती हूं । पर मुझे छोड़कर और कहीं मत जाओ ।'

अह णं से होई उवलद्धो, तो पेसंति तहाभूएहिं ।
अलाउच्छेदं पेहेहि, वग्गुफलाइं आहराहि त्ति ॥४॥

और जब भिक्षु उसके वश में हो जाता है तब उसे नाना प्रकार के काम में लगाती है । वह कहती है—तुम्बी काटने की छुरी लाओ । मेरे लिये अच्छे फल लाओ ।

टिप्पणी—जो स्त्री भिक्षु को पतित करके, केवल विषय-वासना के लिये ही सिर मुंडाती है वह अपनी भोगेच्छा को कब तक दबा सकती उसकी भोगेच्छा किस प्रकार

काँच, दाँत साफ करने के लिये मञ्जन और शोधक लाओ।

'सुपारी, पान, सूई-डोरा, पेशाब करने को कोश (पात्र) सूप-ऊखली, सज्जी आदि खार गलाने के पात्र लाओ।

'हे आयुष्यमान्! चंदालक (देव पूजने का पात्र) और करक (जल अथवा मदिरा का पात्र) लादो। मेरे लिये पाखाना बनवा दो। पुत्र के लिये खिलौना ला दो और उसके घूमने जाने के लिये रथ ला दो।

'मेरे राजाबेटा के लिये गुड़िया, बाजा और गेंद ला दो। बरसात आगई है अतः घर की रीपेरिंग कराओ और अन्न का प्रबंध करो।

आसंदियं च नव सुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए।
अदु पुत्त दोहलट्ठाए, आणप्पा हवंति दासा वा ॥१५॥

नई सूतली की आसंदी (खाट जैसा बैठने का आसन) और कीचड़ आदि से बचकर सुगमता से आने-जाने के लिये पादुका लाओ। अथवा जब स्त्री गर्भिणी होती है तब अपने दोहद की पूर्ति के लिये, दास की तरह पुरुष पर हुक्म चलाती है।

जाए फले समुप्पन्ने, गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि।
अह पुत्तपोसिणो एगे, भारवहा हवंति उट्टा वा ॥१६॥

गृहस्थाश्रम का फल-बच्चा पैदा होता है तब स्त्री (काम में उलझी हुई होने के कारण उसके रोने-चिल्लाने से तंग होकर) पति से कहती हैं—'या तो इसे सम्हालो या

फेक दो।' और कोई कोई पुरुष भार वाही ऊंट के समान बच्चे के पालन-पोषण में जुट जाते हैं।

राओ वि उट्ठिया संता, दारगं च संठवंति धाई वा।
सुहिरामणा वि ते सन्ता, वत्थधोवा हवंति हंसा वा ॥१७॥

रात में भी उस पतित पुरुष को, उठकर बच्चे को धाई के समान सुलाना पड़ता है और लज्जित होते हुए भी धोबी के समान कपड़े धोना पड़ते हैं।

एवं बहुहिं कयपुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना।
दासे मिइ व पेसे वा, पसुभूते व से ण वा केई ॥१८॥

इस प्रकार भोगों के वश में होकर बहुत से भिक्षुओं ने ऐसे कार्य किये हैं। वे स्त्री के वशीभूत पुरुष दास, पशु या खरीदे हुए गुलाम से भी गये-बीते हैं।

एवं खु तासु विन्नप्पं, संथवं संवासं च वज्जेज्जा।
तज्जातिया इमे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाए ॥१९॥

इस प्रकार स्त्रियों के विषय में कहा है। अतः साधु उनका परिचय और संसर्ग छोड़ दे। स्त्री-संसर्ग से उत्पन्न होने वाले इन काम-भोगों को, जिनेन्द्र ने आत्म-घातक कहे हैं।

एयं भयं ण सेयाय, इइ से अप्पगं निरुंभिता।
णो इत्थिं णो पसुं भिक्खू, णो सयं पाणिणा णिलिज्जेज्जा।

ये भोग भय रूप हैं और कल्याणकारी नहीं है। यह समझकर साधु अपने को स्त्री संसर्ग से बचाएं। साधु स्त्री पशु का स्पर्श न करे और न स्वयं अपनी गुप्तेन्द्रिय का स्पर्श

करे ॥ २० ॥

टिप्पणी—इस गाथा का अर्थ यह भी हो सकता है—'स्त्रियों की प्रार्थना आदि से भयभीत होना भी कल्याण के लिये योग्य नहीं है, क्योंकि पराई इच्छाओं पर अपना काबू नहीं है पर अपने आप पर तो अपना अधिकार है अतः साधु अपना—अपनी चित्त वृत्तियों का निरोध करे। और आत्म-वश होने में इस प्रकार सहायता मिल सकती है कि वह स्त्री-पशु का स्पर्श न करे और न अपने शरीर के किसी भी हिस्से को विकार-तृप्ति के लिये थपथपायें।'

सुवि सुद्ध लेसे मेहावी, परकिरिअं च वज्जए णाणी।
मणसा वयसा कायेणं, सव्व-फास-सहे अणगारे ॥२१॥

निर्मल लेश्यावाला बुद्धिमान भिक्षु मन, वचन और काया से पर क्रिया को त्याग दे और सभी स्पर्शों को सहन करे।

टिप्पणी—पर क्रिया के तीन मतलब हैं (१) विषय भोगों के लिये क्रिया करना (२) विषय-भोग-दान द्वारा दूसरे का उपकार करना और (३) दूसरे से अकारण सेवा लेना।

इच्चेव-माहु से वीरे, धुअरए धुअमोहे से भिक्खू।
तम्हा अज्झत्थ विसुद्धे, सुविमुक्के आमोक्खाए परिव्वए-
ज्जासि ॥ २२ ॥ ॥ त्ति बेमि ॥

इस प्रकार कर्म-रज से रहित, वीतराग वीर प्रभु ने कहा है। इसलिए निर्मल चित्तवाला और विषय-वासना से मुक्त वनकर भिक्षु, जहां तक मोक्ष प्राप्त नहीं करले, वहां तक

संयम का अनुष्ठान करे। ऐसा मैं कहता हूं—

※ इति दूसरा उद्देशक ※

टिप्पणी—इस अध्ययन में स्त्री की निंदा नहीं है. परन्तु वस्तु स्थिति वताकर. साधक को सचेत किया गया है। जिस प्रकार भिक्षु के लिये स्त्री का उपसर्ग है उसी प्रकार भिक्षुणी के लिये पुरुष का उपसर्ग है। कई धूर्त्त भोली-भाली अज्ञ साधिकाओं को, अपने सुनहरी माया जाल से उनकी सुप्त वासनाओं को भड़काकर, उन्हें पतित बना देते हैं और यहां तक कि वे पुरुष प्रेम का स्वांग भरकर, मक्कारी के साथ उनके रूप का—उनके शरीर का व्यापार करके, उनके स्त्रीत्व के साथ खिलवाड़ करते हैं। तब उन पतित स्त्रियों की दुर्दशाका पार नहीं रहता है। अतः चाहे पुरुष साधक हो चाहे स्त्री साधिका हो, उन्हें अपने विरोधी लिंगवालों से हमेशा सावधान रहने की जरूरत है, जिससे कि शास्त्रकार सम्मत हैं। परन्तु यहां भिक्षु की अपेक्षा से स्त्री-उपसर्ग का स्वरूप ही वर्णित है, जो कि स्वाभाविक है।

चौथा अध्ययन समाप्त



पाचवाँ अध्ययन

(नरक विभक्ति=नरक के भेद या स्वरूप)

प्रायः पाप के फल हर जगह भोगे जाते हैं। परन्तु

पूर्ण व्यक्त चेताना में, सारी द्रव्य और काल आयुष्य तक जिस क्षेत्र में, पापों के फल स्वरूप दुःख ही दुःख भोगे जाते हो, उस नियत क्षेत्र को नरक कहा गया है। निकृष्टतम पापों के फल, व्यक्त चेतना में, नरक के सिवाय अन्यत्र भोगना संभव नहीं है। अतः "नर्क है"—यह मानना युक्ति-संगत है।

पहला उद्देशक

पुच्छिस्सहं केवलियं महेसिं, कहं भितावा णरगा पुरत्था।
अजाणओ मे मुणि ब्रूहि जाणं, कहिं नु बाला नरयं उविंति।

मैंने महर्षि केवली महावीर को पूछा था—'हे मुनि' नर्क में अज्ञानी किस प्रकार पीड़ित होते हैं और उनको वह दुःख कैसे होता है? यह मैं नहीं जानता हूं, पर आप जानते हैं। अतः मुझको कहिए। १

एवं मए पुट्ठे महाणुभावे, इणमोऽब्ववी कासवे आसुपन्ने।
पवेदइस्सं दुहमट्ठदुग्गं, आदीणियं दुक्कडियं पुरत्था ॥२॥

इस प्रकार मेरे पूछने पर, महानुभाव, आशुप्रज्ञ=निरंतर उपयोग वाले काश्यप, इस प्रकार कहने लगे—'सुनो! मैं तुम्हे अर्थ-दुर्ग=छद्मस्थों के लिये जिसका अर्थ दुर्गम है, आदीनिक=जहां सर्वत्र दीन जीव रहते हैं और दुष्कृतिक=जहां बुरे कर्मों का फल मिलता है, उस दुःख स्थान का स्वरूप कहूंगा।

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी, पावाइं कम्माइं करेंति रुद्दा ।
ते घोर रूवे तमिसंधयारे, तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥३॥

संसार में भयङ्कर, अज्ञानी जीव अपनी जिंदगी के लिये पाप कर्म करते हैं वे तीव्र पीड़ा और गहन अंधकार से युक्त घोर नरक में पड़ते है ।

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसती आय-सुहं पडुच्चा ।
जे लूसए होइ अदत्तहारी, ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि ॥

जो जीव अपने सुख के लिये, त्रस और स्थावर जीवों की क्रूरता से हिंसा करता है, जो अदत्त का हरण कर, लूट कर मानवों को दुःखी करता है, और सद् अनुष्ठान की शिक्षा नहीं पाता है-— ४

पागब्भि पाणे बहुणं तिवाति, अनिव्वुए घातमुवेति बाले ।
णिहो णिसं गच्छति अंतकाले, अहोसिरं कट्टु उवेइ दुग्गं ॥

जो प्रगल्भ (ढीठ, निर्लज्ज) प्राणों का अतिपात करता है, जो अज्ञानी तीव्र क्रोधी प्राणियों की घात करता है वह मरकर नीचे अधकार में जाता है और औंधे सिर होकर दुःख पाता है । ५

'हण, छिंदह, भिंदह णं दहेति'—सद्दे सुणिता परहम्मियाणं ।
ते नारगाओ भयभिन्नसन्ना, कंखंति कं नाम दिसं वयामो ॥
इंगालरासिं जलियं सजोतिं, तत्तोवमं भूमिमणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठितीया ॥

वहाँ नर्क में परमाधार्मिक देवों के—'मारो, काटो,

चीरो, जलाओ'—ये शब्द सुनकर, वे नारक जीव भयभीत होकर, यह इच्छा करते हैं कि—'कहीं भाग जाएं।' ६

और वे वहां की ज्वाज्वल्यमान अग्नि के समान तप्त भूमि पर (दुःखों से छुटने के लिये) वार-वार दौड़ते हैं और विवश होकर जलते हुए रोते चिल्लाते हैं। इस प्रकार वहां लम्बे समय तक वे दुःख भोगते हैं। ७

जइ ते सुया वेयरणी भिदुग्गा,
णिसिओ जहा खुर इव तिक्ख-सोया।
तरंति ते वेयरणीं भिदुग्गां, उसुचोइया सत्तिसु हम्ममाणा ॥
कीलेहि विज्झंति असाहुकम्मा, नावं उविंते सइ विप्पहूणा।
अन्ने तु सूलाहिं तिसूलियाहिं, दीहाहिं विद्धूण अहेकरंति ॥

हे शिष्य! असह्य दुःख-कारक, उस्तरे (क्षुर) की धार के समान तीक्ष्ण प्रवाहवाली वैतरणी नदी के विषय में सुना है? वहां वे जीव उस नदी को, शस्त्रों की तीखी अणियों से प्रेरित होकर और शस्त्रों की मार से पीड़ित होकर पार करते हैं।

'वे नदी के प्रवाह से दुःखी होकर, नाव की ओर आते हैं तब परमाधार्मिक देव उन्हें शस्त्रों से वेध डालते हैं और अन्यत्र उन्हें दूसरे देव, वड़े-वड़े कांटों से और त्रिशूलों से वेध कर नीचे फेंक देते हैं। ८-९

केसिं च बंधितु गले सिलाओ, उदगंसि बोलंति महालयंसि।
कलंवुया वालु य मुम्मुरे य, लोलंति पच्चंति अ तत्थ अन्ने ॥

दूसरे कहीं उन नारक जीवों को, उनके गले में शिलाएं

बांधकर अगाध जल में डुबाते हैं। कहीं वे तप्त लाल रेत में भूने जाते हैं तो अग्नि पर पकाये जाते हैं। १०

आसूरियं नाम महाभितावं, अंधंतमं दुप्पतरं महंतं।
उड्ढं अहेअं तिरियं दिसासु, समाहिओ जत्थऽगणी झियाई॥

असूर्य नामक नर्क महा अभिताप=दुःख से परिपूर्ण है। वहां अभेद्य गहनतम अन्धकार है। ऊंची, नीची, तिर्छी सभी दिशाओं में अति उष्ण अग्नि जलता रहता है। ११

जंसी गुहाए जलणेऽतिउट्टे, अविजाणओ डज्झइ लुत्तपण्णो।
सया य कलुणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अति दुक्खधम्मं॥

जहां गुहा में आग के अन्दर पड़कर, अपने आपको भूलकर हतबुद्धि प्राणी जलते हैं। वह नरक-स्थान सदा ही करुण तपा हुआ रहता है। दुष्कृत्यों से प्राप्त होने के कारण वहां दुःख ही दुःख है। १२

चत्तारि अगणीओ समारभित्ता, जहिं कूरकम्माऽभितवेंति बालं।
ते तत्थ चिट्ठंतऽभितप्पमाणा, मच्छा व जीवंतुवजोतिपत्ता॥

वहां नर्क में क्रूर कर्मवाले देव चारों ओर अग्नि जलाकर, अज्ञानी जीवों को तपाते हैं। जिस प्रकार आग के समीप आकर जीवित मच्छलियाँ तड़फती हैं उसी प्रकार वे नारक जीव इधर उधर भागने में असमर्थ होकर, वहीं अग्नि में तपते रहते हैं। १३

संतच्छणं नाम महाहितावं, ते नारया जत्थ असाहुकम्मा।
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, फलगं व तच्छंति कुहाडहत्था॥

नर्के में तक्षण से=छीलने से महान् दुःख होता है। वहा बुरे कर्म वाले परमाधार्मिक देव, उन प्राणियों को हाथ-पैर से बांधकर, हाथ मे कुल्हाड़ी लेकर, लकड़ी के पटिये के समान छीलते। १४

रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे, भिन्नुत्तमंगे परिवत्तयंता।
पयंति णं णेरइए फुरंते, सजीव-मच्छे व अयो-कवल्ले।१५।

वे नर्कपाल, उन प्राणियों को, उनके ही खून में, लोहे की कड़ाई में जिस प्रकार सजीव मच्छियां तली जाती हैं उसी प्रकार उलट-पलट कर पकाते हैं, उस समय वे जीव यंत्रणा से छटपटाते हैं। पकाने से पहले उन जीवों के अंग मल से सूजे रहते हैं और उनके सिर चूर-चूर कर दिये जाते हैं।

नो चेव ते तत्थ मसीभवंति, ण मिज्जती तिव्वभिवेयणाए।
तमाणुभागं अणुवेदयंता, दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं।१६।

वे नर्क के जीव वहां न आग से जलकर भस्म होते है और तीव्र वेदना से मरते हैं। वे जीवन पर्यन्त, यहां के दुष्कृत्यों से, पाप-फल को पुनः पुनः वेदन करते हुए दुःखी होते रहते हैं।

ताहिं च ते लोलण-संपगाढे, गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति।
न तत्थ सायं लहती भिदुग्गे, अरहिया भितावा तहवी तविंति॥

अति शीत से दुःखित नर्क के जीव तप्त आग के पास जाते है, परन्तु वहाँ भी वे सुख नहीं पा सकते हैं, जलने लगते हैं। आग से जलते रहने पर भी, नर्कपाल उन्हें और भी

जलाते हैं ।

से सुच्चई नगरवहे व सद्दे, दुहो-वणीयाणि पयाणि तत्थ ।
उदिण्ण-कम्माण उदिण्णकम्मा, पुणो पुणो ते सरहं दुहेंति ॥

नगर के वध के समय होते हुए कोलाहल के समान, करुण व चीत्कारों से भरा हुआ कोलाहल, नर्क में सुनाई पड़ता है । जिन प्राणियों के कर्मों का उदय हुआ वे प्राणी, जिन प्राणियों के कर्म का उदय हुआ उन प्राणियों को, बार-बार सवेग दुःख देते हैं ॥ १८ ॥

टिप्पणी—'उदिण्णकम्मा' शब्द का अर्थ, टीकाकार ने 'परमाधार्मिक-नर्कपाल' किया है और इसका एक अर्थ 'नर्क के जीव' होता ही है । अर्थात् नर्कपाल नारक जीवों को दुःख देते ही हैं । परन्तु वे परस्पर में उदीरित कर्म वाले [दुःख देने वाले] भी होते हैं । क्योंकि तीसरी नर्क के आगे परमाधार्मिक देवों का गमन नहीं है ।

पाणेहि णं पाव वियोजयंति, तं भे पवक्खामि जहातहेणं ।
दंडेहिं तत्था सरयंति बाला, सव्वेहि दंडेहि पुराकएहिं ।१९।

नर्कपाल नर्क में जीवों के अंगों को अलग-अलग कर देते हैं, उसका वर्णन तुम्हें ठीक-ठीक कहता हूं । वहां परमाधार्मिक उन्हें दण्ड देते समय पुराने पापों की याद दिलाते हैं ।

ते हम्ममाणा णरगे पडंति, पुण्णे दुरूवस्स महाभितावे ।
ते तत्थ चिट्ठंति दुरूवभक्खी, तुट्टंति कम्मोवगया किमीहिं ॥

वे नर्क के प्राणी ताड़ित होकर, (वचने के प्रयत्न में) और अपवित्र स्थान में जा पड़ते हैं और दुःख पाते हैं । वे

वहां अपवित्र पदार्थों को खाते हैं। (पर तृप्ति कहां ?) वहां नर्क के जीव कृमि बनकर परस्पर ही खाने लगते हैं ॥ २० ॥

सया कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं।
अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं, वेहेण सीसं सेऽभितावयंति॥

नर्क स्थान सदा उष्णता प्रधान है। नर्क गाढे कर्मों से मिलती है, अतः नर्क दुःख स्वरूप है। वहां नर्कपाल जीवों को तोड़ मरोड़कर बेड़ियों में डालते हैं (अर्थात यन्त्रो में खींचते हैं) और सिर में छेद करके दुःखी करते हैं ॥ २१ ॥

छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं, उट्ठे वि छिंदंति दुवे वि कण्णे।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं, तिक्खाहि सूलाहि भितावयंति ॥२२॥

वहां नर्कपाल उन बाल जीवों के, उस्तरे से नाक, होठ, कान काट देते हैं। जीभ को बित्ते भर बाहर निकालकर, उसमें तीखे शूल चुभाकर दुःख देते हैं।

ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व, राइं दियं तत्थ थणंति बाला।
गलंति ते सोणिअ–पूय–मंसं, पज्जोइया खार–पइद्धियंगा॥

अंगों के कट जाने से, उनके शरीर से रक्त टपकता है और वे रात-दिन, सूखे ताल पत्रों की टकराहट से होने वाली आवाज के समान, जोर जोर से रोते रहते हैं। उनके जले हुए अंगों पर नमक छिटका जाता है और शरीर से रक्त, पीव, मांस झरता रहता है ॥ २३ ॥

जइ ते सुता लोहित-पूअ पाई, बालागणी तेअगुणा परेणं।
कुंभी महंता हिय-पोरसीया, समूसिता लोहियपूयपुण्णा ॥

खून और पीव को पकाने वाली, अत्यन्त तप्त, पुरुष प्रमाण से अधिक बड़ी, रक्त और पीव से परिपूर्ण, कुम्भी नामक नर्क-भूमिका नाम तुमने सुना है ?॥ २४ ॥

पखिप्प तासुं पययंति बाले, अट्टसरे ते कलुणं रसंते।
तण्हाइया ते तउतंब तत्तं, पज्जिज्जमाणाऽट्टतरं रसंति ॥

उस कुम्भी मे नर्कपाल आर्तस्वर करते हुए दयनीय अज्ञानी जीवों को डालकर पकाते हैं। उन जीवो को प्यास लगने पर गरम शीशा और ताम्बा पिलाते हैं। तब, वे आर्त स्वर में रोते हैं ॥ २५ ॥

अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता, भवाहमे पुव्व-सते--सहस्से।
चिट्ठंति तत्था बहुकूर--कम्मा, जहा कडं कम्म तहासि भारे ॥

यहां संसार में जो अपने आपको ही ठगते हैं, वे आगे सैंकड़ों हजारों बार नीच भव पाते हैं और वहां वे क्रूर कर्म वाले जीव, अपने कृत कर्मानुसार पीड़ित होते हैं।२६।

समज्जिणित्ता कलुसं अणज्जा, इट्ठेहि कंतेहि य विप्पहूणा।
ते दुब्भिगंधे कसिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसंति ॥
॥ त्ति बेमि ॥ २७ ॥ पञ्चमज्झयणे पढमोद्देसो

अनार्य प्राणी कलुष-पाप उपार्जन करके अनिष्ट, अप्रिय, दुर्गन्धमय, अशुभ स्पर्शवाली और मांस-रुधिरादि से पूर्ण नर्क में, कर्म के वशीभूत होकर निवास करते हैं।

दूसरा उद्देशक



अहावरं सासय-दुक्ख-धम्मं, तं भे पवक्खामि जहातहेणं।
बाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेयंति कम्माइं पुरे कडाइं ॥

अब मैं तुम्हें शाश्वत दुःख धर्मात्मक नर्कों का वर्णन सुनाऊंगा। जहां पर पाप कर्म करने वाले अज्ञानी जीव अपने पहले किये हुए कर्मों का फल भोगते हैं ॥ १ ॥

हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, उदरं विकत्तंत्ति खुरासिएहिं।
गिण्हित्तु बालस्स विहत्तु देहं, वद्धं थिरं पिट्ठतो उद्धरंति ॥

उन नारक जीवों के, नर्कपाल हाथ-पैर बांधकर पेट को उस्तरे से फाड़ देते हैं। उन अज्ञानी जीवों की देह को प्रहार से घायल करके, वे नर्कपाल उन्हें पकड़कर, उनकी पीठ की चमड़ी उधेड़ देते हैं ॥ २ ॥

बाहू पकत्तंति य मूलतो से, थूलं वियासं मुहे आडहंति।
रहंसि जुत्तं सरयंति बालं, आरुस्स विज्झंति तुदेण पिट्ठे ॥

नर्कपाल नारक जीवों की भुजा को मूल से काट देते हैं। उनका मुंह फाड़कर, उसमें बड़े गर्म गोले को ठूंसकर, उन्हे जलाते हैं। नर्कपाल अज्ञानी जीवों को रथ में जोतकर, पुराने पापों की याद दिलाते हैं और क्रोधित होकर पीठ पर चाबुक से मारते हैं ॥ ३ ॥

अयं व तत्तं जलियं सजोइ, तऊवमं भूमि मणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, उसु-चोइया तत्त-जुगेसु जुत्ता ।

तब वे तपे हुए जुए में जुते हुए प्राणी, तीखी अणियों की मार से प्रेरित होकर, अग्नि से लाल-लाल तपे हुए लोहे के समान तपी हुई भूमि पर, दौड़ने से जलकर, करुण रुदन करते हैं ॥ ४ ॥

बाला बला भूमि मणुक्कमंता, पविज्जलं लोहपहं च तत्तं ।
जंसी भिदुग्गंसि पवज्जमाणा, पेसे व दंडेहि पुरा करेंति ॥

नर्कपाल उन रथ में जुते हुए नारक जीवों को, खून-मांस आदि के-कीचड़ से भरे हुए और तपे हुए मार्ग में, जबर्दस्ती से चलाते हैं । यदि वे कहीं कठिन जगह पर रुक जाते हैं तो उन्हें बैल के समान दंडे से पीटकर आगे बढ़ाते हैं ॥ ५ ॥

ते संपगाढंसि पवज्जमाणा, सिलाहि हम्मंति निपातिणीहिं ।
संतावणी नाम चिरट्ठितीया, संतप्पती जत्थ असाहुकम्मा ।६।

नर्कपाल, उन्हें अति दुःख के कारण विश्राम के लिये ठहरने पर बड़ी-बड़ी शिलाओं से मारते हैं । बुरे कर्म करने वाले जीव संतापनी नामक नरक भूमि में, बड़ी स्थिति-आयुष्य पाकर तपते रहते हैं ।

कंदूसु पक्खिप्प पयंति बालं, तओ वि दड्ढा पुण उप्पयंति ।
ते उड्ढकाएहिं पखज्जमाणा, अवरेहिं खज्जंति सणप्फएहिं ॥

नर्कपाल अज्ञानी जीवों को कंदु (=संभवतः भाड)

में डालकर भूनते हैं और वहां से वे दग्ध होकर उछलते हैं। वहा ऊपर ही द्रोणकाक आदि उन्हें टोंचकर खाते हैं और नीचे गिरने पर, व्याघ्रादि नखवाले प्राणी फाड़ खाते हैं ॥ ७ ॥

समूसियं नाम विधूम ठाणं, जं सोयतत्ता कलुणं थणंति।
अहोसिरं कट्टु विगत्तिऊणं, अयं व सत्थेहि समोसवेंति ।८।

वहां नर्क में चिता के समान धुँअे से रहित अग्नि का स्थान है जहां शोकतप्त प्राणी करुण विलाप करते हैं। तथा नर्कपाल उन्हे औंधे सिर करके, लोहे के समान काटते हैं और शस्त्रों से उनके टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं।

टिप्पणी—टीकाकार ने उपर्युक्त अर्थ किया है, पर प्रसंग के अनुसार निम्न अर्थ भी प्रतीत होता है—"ऊँचे उछलने पर वे छिन्न-भिन्न दशा को प्राप्त होकर शोक से करुण विलाप करते हैं। औंधे सिर नीचे आते हुए उन प्राणियों को, नर्कपाल छेदते हैं और तीक्ष्ण लोह शस्त्रों के द्वारा ऊपर उछालते हैं।"

समूसिया तत्थ विसूणियंगा, पक्खीहि खज्जंति अयोमुहेहिं।
संजीवणी नाम चिरट्ठितीया, जंसी पया हम्मइ पावचेया ।९।

इस प्रकार उछालने पर उनके अंगों का चमड़ा उखड़ जाता है, जिससे वज्र के समान चोंचवाले पक्षी उनके उन अंगों को खाते हैं। इतनी पीड़ा भोगने पर भी नर्क के जीव अकाल में मरते नहीं हैं और वहां लम्बे अरसे तक पापबुद्धि प्राणियों का बार-बार हनन होता रहता है।

तिक्खाहि सूलाहि निवाययंति, वसोगयं सावययं व लद्धुं।
ते सूलविद्धा कलुणं थणंति, एगंत दुक्खं दुहओ गिलाणा।१०।

नर्कपाल नारक जीवों को, वशीभूत जंगली पशु के के समान, तीखे-तीखे शूल भोंककर मारते हैं। शूल से विंधकर, वे नारक जीव करुण क्रन्दन करते हैं। नर्क के जीव वाह्य-आन्तरिक हर्ष से रहित एकान्त दुःखी हैं।

सया जलं नाम निहं महंतं, जंसी जलंतो अगणी अकट्ठो।
चिट्ठन्ति बद्धा बहुकूरकम्मा, अरहस्सरा केइ चिरट्ठितीया ११

नर्क में सदा जलने वाला घातक स्थान है। जहां विना लकड़ी के, आग धधकती रहती है। कई क्रूर पापी परवश होकर, वहां लम्बे समय तक, आर्त्त स्वर करते हुए, निवास करते हैं।

चिया महंतीउ समारभित्ता, छुब्भंति ते तं कलुणं रसंतं।
आवट्टती तत्थ असाहुकम्मा, सप्पी जहा पडियं जोइमज्झे॥

परमाधार्मिक देव बड़ी चिता वनाकर, उसमें रोते हुए नारक जीवों को फेंक देते हैं। वहां वे बुरे कर्म करने वाले प्राणी, गलकर पानी हो जाते हैं, जिस प्रकार आग में पड़ा हुआ घी पिघल जाता है॥ १२॥

सदा कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अइ दुक्खधम्मं।
हत्थेहिं पाएहि य बंधिऊणं, सत्तुव्व डंडेहि समारभंति।१३।

दुष्कर्मों से प्राप्त होने वाली, अति दुःखद नर्क भूमि सदा गर्म रहती है, जिसमें नर्कपाल जीवों के हाथ-पैर बांधकर, शत्रु के समान डंडों से पीटते हैं।

भंजंति बालस्स वहेण पुट्ठी, सीसंपि भिंदंति अओघणेहिं ।
ते भिन्नदेहा फलगं व तच्छा, तत्ताहि आराहि णियोजयंति ॥

नर्कपाल अज्ञानी जीवों को मार मारकर, उनकी पीठ तोड़ देते हैं। लोहे के घन से सिर के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। उन छिन्न-भिन्न देह वाले प्राणियों को लकड़ी के पटियों के समान छीलते हैं और तपे हुए आरे (करवत) के द्वारा उन्हें काटते हैं॥ १४॥

अभिजुंजिया रुद्द असाहुकम्मा, उसुचोइया हत्थिवहं वहंति।
एगं दुरूहित्तु दुवे ततो वा, आरुस्स विज्झंति कक्काणओ से॥

नारक जीवों को, नरकपाल शस्त्रों के द्वारा, भार ढोने के लिये प्रेरित करते हैं। एक दो या अनेक जीवों को उनकी पीठ पर चढ़ा देते हैं। तथा क्रोधित होकर मर्मस्थान पर प्रहार करते हैं॥ १५॥

बाला बला भूमिमणुक्कमंता, पविज्जलं कंटइलं महंतं।
विवद्ध-तप्पेहि विवण्णचित्ते, समीरिया कोट्टबलिं करेंति॥

परवश नारक जीव, कीचड़ और कांटों से भरी हुई राह को पार करने के लिये विवश किये जाते हैं। पाप कर्म से प्रेरित नर्कपाल, बन्धे हुए भय--भ्रान्त नर्क के जीवों को काटकर टुकड़े कर देते हैं॥ १६॥

वेतालिए नाम महाभितावे, एगायते पव्वयमंतलिक्खे।
हम्मंति तत्था बहुकूरकम्मा, परं सहस्साण मुहुत्तगाणं॥

आकाश में वैक्रय से बना हुआ एक लम्बा पर्वत है।

वहां परमाधार्मिक कई नारक जीवों को बहुत समय तक मारते हैं ॥१७॥

संबाहिया दुक्कडिणो थणंति, अहो य राओ परितप्पमाणा ।
एगंतकूडे नरगे महंते. कूडेण तत्था विसमे हता उ ॥१८॥

पापी प्राणी एकान्त कूट नर्क में महान् विषम स्थान में, कूट (फांसी–टी०, सम्भवतः जहर) से हत होकर, संतप्त होकर, रात–दिन रोते रहते हैं ।

भंजंति णं पुव्वमरीसरोषं, समुग्गरे ते मुसले गहेतुं ।
ते भिन्नदेहा रूहिरं वमंता, ओमुद्धगा धरणितले पडंति ॥

पूर्व भव के शत्रु जीव, मुद्गल और मूसल लेकर, रोष के साथ मारते हैं जिससे नर्क के जीवों के शरीर छिन्न भिन्न हो जाते हैं; वे खून की कै करने लगते हैं और औंधे होकर, पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं ।

अणासिया नाम महासियाला, पागब्भिणो तत्थ सयावकोवा ।
खज्जंति तत्था बहुक्रूर–कम्मा. अदूरगा संखलियाहि बद्धा ॥

वहां नर्क में सदा कुपित,- ढीठ, विशाल शरीर वाले भूखे सियार, सांकल से बन्धे हुए, निकट में स्थित, पापी जीवों को खाते हैं ।

सया जला नाम नदी भिदुग्गा, पविज्जलं लोहविलीण-तत्ता ।
जंसी भिदुग्गंसि पवज्जमाणा, एगायऽताणुक्कमणं करेंति ॥

नर्क में मांसादि के कीचड़ से पूर्ण, पिघले हुए लोहे के समान जलवाली, अत्यन्त दुःखदायी, निरन्तर प्रवाहित

(सदाजला) एक नदी है। जिसमें नरक के जीव, असहाय और अकेले तैरते हैं।

एयाइँ फासाइँ फुसंति वालं, निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीयं।
न हम्ममाणस्स उ होइ ताणं, एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं ॥

इन दुःखों को नर्क में वाल जीव, लम्बे समय तक निरन्तर भोगते रहते हैं। उन्हें कोई भी पीड़ा भोगने से नहीं बचा सकता है, निःसहाय अकेले को ही दुःख भोगने पड़ते हैं।

जं जारिसं पुव्वमकासी कम्मं. तमेव आगच्छति संपराए।
एगंत दुक्खं भवमज्जणित्ता, वेदंति दुक्खी तमणंत-दुक्खं ॥

प्राणी संसार में, अपने पूर्व कर्मों के अनुसार, आता है। इसलिये प्राणी एकान्त दुःखरूप भव को अर्जित करके, नर्क में उत्पन्न होकर, अनन्त दुःख भोगते हैं।

एताणि सोच्चा नरगाणि धीरे, न हिंसए किंचण सव्वलोए।
एगंत दिट्ठी अपरिग्गहे उ, वुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे ॥

धीर पुरुप इन नर्कों का कथन सुनकर, सारे लोक में किसी भी प्राणी की हिंसा न करे; तत्त्व पर निश्चल विश्वास रखें; परिग्रह को छोड़ दे और अच्छी तरह से समझ कर, लोक प्रवाह (कषायों) के वशीभूत न हो।

एवं तिरिक्खे मणुया सुरेसुं, चतुरंतऽणंतं तयणुव्विवागं।
स सव्वमेयं इति वेदइत्ता, कंखेज्ज कालं धुयमायरेज्ज ॥
॥ त्ति बेमि ॥ २५॥

इसी प्रकार नर्क तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, ये चारों

गतियां कर्म के फलस्वरूप हैं। वह धीर पुरुष यह सब जानकर कर्म के काल (अन्त करने) की इच्छा करे और मोक्ष मार्ग का अनुसरण करे।

टिप्पणी—यह नर्कों का वर्णन, मनुष्यों को डरा कर, धर्म-कार्य में प्रेरित करने के लिये ही नहीं है, वरन् प्राणी अपने को प्राप्त शक्तियों का दुरुपयोग करके, अपने चारों ओर कैसे दुःखों का अर्जन कर लेता है, इसकी किंचित् झांकी कराई गई है। यदि प्राणी स्व-शक्ति से इतना दुःखार्जन कर सकता है तो क्या सुख-सम्पत्ति अर्जित नहीं कर सकता है? वह इन्हीं शक्तियों के बल से उत्कृष्ट देवत्व का सुख भी पा सकता है। पर वहां का सुख भी परावलम्बी होता है। दैवी सुख भी कर्मों का फल है, जिस प्रकार नर्क कर्म का फल है। अतः जब तक एकान्त दृष्टि (एङ्गतदिट्ठी) =आत्म दृष्टि जाग्रत नहीं हो पाती तब तक स्वतन्त्र सुख नहीं मिल सकता। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नर्क गतियां आत्मा के कर्म रूप फोड़े की मवाद के समान हैं। संयम की सर्जरी में एकाग्रता-तप के शस्त्रों के द्वारा चीरफाड़ के बिना जीव स्वस्थ नहीं हो सकता। रोग मिटाने के लिये रोग का ज्ञान होना भी आवश्यक है। इसी हेतु से शास्त्रकार ने आत्म-रमणता के लिये, दुःख आने पर विचलित नहीं होने के लिये, कर्म-विपाक=फल नर्कादि का वर्णन किया है जो कि प्राणियों की शक्ति के प्रयोगों के निष्कर्ष हैं।

* इति दूसरा उद्देशक *

—३ पांचवां अध्ययन समाप्त ६—

छट्ठा अध्ययन

(श्री वीर स्तुति)

पिछले अध्ययन में नर्क का स्वरूप बताकर, देवादि गति को भी कर्म का फल कहा गया है। तब प्रश्न होता है कि क्या कोई ऐसा भी कर्म अर्थात् क्रिया है, जिससे निष्कर्मता की भौतिक बन्धनों के अभाव की प्राप्ति होती हो? इसका वही निम्न उत्तर दिया गया है—'सव्वसेयं इति वेदइत्ता, कंखेज्ज कालं धुयमारेज्ज'—अर्थात्—'वस्तु स्वरूप का ज्ञाता होकर, काल की-अन्तिम मरण की प्रतिक्षा करे और ध्रुव का-आत्म स्थिरता का आचरण करे।'

उपर्युक्त उत्तर से शिष्य को जिज्ञासा होती है कि जिसने इस प्रकार निष्कर्म का उपदेश दिया, वह कैसा था? उसने क्या ऐसा आचरण किया था? उसके अपने जीवन में यह सिद्धान्त कहां तक उतरा था? और जिसका उसके जीवन में क्या निष्कर्ष निकला? इन प्रश्नों के उत्तर रूप में ही गणधर सुधर्म भगवान ने यह अध्ययन कहा, जिसमें अनेक उपमाओं द्वारा प्रभु वीर के अन्तरंग जीवन का स्पष्ट चित्र खींचा है, जिससे साधक के समक्ष अपने आराध्य का-लक्ष्य का स्पष्ट आदर्श उपस्थित हो जाय।

जैन दर्शन में स्तव-स्तुति का मुख्य उद्देश्य यही है कि

साधक गुणी के गुणों की प्रशंसा के द्वारा अपनी प्रमोद भावना जाग्रत करे और साधना से होने वाले अवसादों से दूर होकर, आत्म गुणों में तल्लीन हो जाय; जिससे निज स्वरूप का आविर्भाव हो अथवा मन से सांसारिक खेदों की मलीन छाया हटाकर, अदीन वृत्ति का विकास करे।

पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य, अगारिणो या परतित्थिआ य।
से केइ णेगंत-हियं धम्ममाहु, अणेलिसं साहु समिक्खयाए ॥
कहं च णाणं कह दंसणं से, सीलं कहं नायसुतस्स आसि।
जाणासि णं भिक्खु जहातहेणं, अहासुतं बूहि जहा णिसंतं ॥

(जम्बू स्वामी—प्रभो !) मुझे श्रमण, ब्राह्मण और अन्य मतावलम्बी कई गृहस्थ पूछते हैं कि जिसने उत्तम खोज के द्वारा परम कल्याणकारी और अनुपम धर्म को कहा है वह कौन है ?

'अतः भन्ते ! आपने सुनकर और देखकर, जैसा जाना या निश्चय किया हो, उसीके अनुसार मुझे बताइये कि ज्ञातपुत्र का ज्ञान कैसा था ? दर्शन कैसा था ? और उनका शील अर्थात् चारित्र्य और तपोबल कैसा था ?'

खेयन्नए से कुसलासुपन्ने, अणंतणाणी य अणंतदंसी।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि ॥
उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
से णिच्चणिच्चेहि समिक्खपन्ने, दीवे व धम्मं समियं उदाहु ॥

(सुधर्म भगवान्—आयुष्मान् !) ज्ञातपुत्र महावीर

वास्तविक दुःख को जानते थे, क्योंकि वे विचक्षण—चतुर, निरन्तर उपयोगशील, अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी थे। (उन्हें पूर्ण रूप से जानने के लिये) आंखों के सामने प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले, उन यशस्वी के प्रतिपादित धर्म को जानो और फिर उनके धैर्य की कसौटी करो।

सभी द्रव्य-भाव को प्रकाशित करने में दीपक समान ज्ञातपुत्र ने, ऊंची-नीची तिरछी दिशा में स्थित जितने त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनको नित्या-नित्य जानकर, समित अर्थात् जयणा धर्म को कहा है।

टिप्पणी—(१) किसी परोक्ष व्यक्ति को जानने के लिये उसकी कृति भी बड़ी सहायक होती है। कर्त्ता की कृति में, उसके गुण-दोष, भले वह उन्हें छिपाने के लिये लाख प्रयत्न करे, तो भी कहीं न कहीं प्रतिबिम्बित हो ही जाते हैं। अतः भगवान् के प्रतिपादित धर्म के द्वारा उनके धैर्यशील चारित्र्य को अच्छी तरह से जाना जा सकता है और व्यक्ति के चारित्र्य का ज्ञान ही उसका वास्तविक परिचय है।

(२) धर्म से धैर्य की परीक्षा करने के कथन से यह भासित होता है कि प्राणी निराग्रह बुद्धिवाला बड़ी कठिनाई से हो सकता है। पर महावीर के अनेकान्त और अहिंसा सिद्धान्त के प्रतिपादन से, उनके विचार और आचार दोनों में धैर्य की अर्थात् दुराग्रह के अभाव और समता की प्रतीति होती है।

(३) सूत्रकार ने 'नित्यानित्य' पद से अनेकान्त और 'समित' पद से अहिंसा अथवा आचार-कौशल की ओर संकेत किया है।

(४) टीकाकार ने तीसरी गाथा के अर्थ का एक विकल्प प्रश्न रूप से भी निर्देश किया है।

से सव्वदंसी अभिभूयनाणी, णिरामगंधे धिइमं ठियप्पा।
अणुत्तरे सव्व-जगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ।५।

वे सर्वदर्शी प्रभु अप्रतिहत ज्ञानी, विशुद्ध चारित्र्य वाले, धैर्यशाली, और स्थिर आत्मा सारे जगत में उत्कृष्ट विद्वान् थे, क्योंकि वे बंधन रहित, निर्भय और आयु-रहित अर्थात उम्र से परे हो चुके थे।

टिप्पणी—"णाणस्स फलं विरई" अर्थात ज्ञान का फल वैराग्य है। जिसके हृदय में उत्कृष्ट वैराग्य का आगमन होता है उसकी प्रवृत्ति चारित्र्य में हुए बिना नहीं रहती और जो उत्कृष्ट चारित्र्य वाला होता है वह बन्धनों से मुक्त होकर. निर्भय और अनायु हो जाता है। अतः सच्चा विद्वान् वही है जो बंधन से रहित-निर्भय है और जो भव-परम्परा का विच्छेद कर देता है।

से भूइपण्णे अणिए अचारी, ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू।
अणुत्तरं तप्पति सूरिए वा, वइरोयणिंदे व तमं पगासे ।६।

वे परम बुद्धिमान, इच्छाओं से दूर अथवा अप्रतिबद्ध विहारी, संसार-प्रवाह से परे पहुंचे हुए, परम धीर और अनन्त चक्षु=अनन्त ज्ञानी प्रभु, सूर्य के समान अति श्रेष्ठ

तपोमय थे और अग्नि के समान अज्ञान अंधकार को ज्ञान प्रकाश में परिणत कर देते थे।

अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं, णेया मुणी कासव आसुपन्ने।
इंदेव देवाण महाणुभावे, सहस्सणेता दिवि णं विसिट्ठे॥

इसलिये वे आशुप्रज्ञ=तत्त्वातत्त्व के पूर्ण रहस्यज्ञ, काश्यपमुनि=महावीर, राग-द्वेष से मुक्त पुरुषों के इस अनुत्तर धर्म के नेता थे। जैसेकि स्वर्ग में इन्द्र, देवताओं में महान प्रभावशाली और हजार आंखें रूप विशिष्टता वाला होता है।

से पन्नया अक्खय-सागरे वा, महोदही वा वि अणंतपारे।
अणाइले वा अकासाइ मुक्के, सक्के व देवाहिवई जुईमं ।८।

भगवान प्रज्ञा की अपेक्षा से अक्षय सागर के समान थे; स्वयंभूरमण के समान गम्भीर थे; पर आर-पार से रहित थे, स्वच्छ निर्मल थे; कषायों से रहित थे; जीवन्मुक्त थे और देवाधिपति इन्द्र के समान द्युतिमान्-कान्तिवान् थे।

से वीरिएणं पडिपुन्नवीरिए, सुदंसणे वा णगसव्व-सेट्ठे।
सुरालए वासि-मुदागरे से, विराजते णेग-गुणोववेए॥ ९॥

भगवान बल-वीर्य से परिपूर्ण शक्तिवाले थे। जिस प्रकार सुदर्शनगिरी=मेरु पर्वत सब पर्वतों में श्रेष्ठ है और स्वर्ग के निवासियों के लिये आनन्द-दायक है, उसी प्रकार अनेक गुणों से युक्त महावीर प्रभु सुशोभित हैं अथवा जैसे स्वर्ग देवताओं के लिये हर्षकारी है वैसे ही अनेक गुणों से युक्त महावीर प्रभु भी प्राणियों को मुदित करने वाले हैं।

सयं सहस्साण उ जोयणाणं, तिकंडगे पंडग-वेजयंते ।
से जोयणे णवणवते सहस्से, उध्दुस्सितो हेट्ठ सहस्समेगं ।।

वह सुमेरु-पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। उसके तीन काण्ड=हिस्से हैं (काण्डों के नाम-भौम, जाम्बूनद और वैडूर्य हैं) सबसे ऊपर के भाग में पण्डक वन पताका के समान सुशोभित है। वह सुमेरु निन्यानवे हजार (९९०००) योजन जमीन के ऊपर ऊँचा है और एक हजार योजन का नीचे जमीन में मूल है ।।१०।।

पुट्ठे णभे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए, जं सूरिया अणुपरिवट्टयंति ।
से हेमवन्ने बहुनंदणे य, जंसी रतिं वेदयंती महिंदा ।।११।।

इस प्रकार वह सुमेरु-पर्वत ऊँचे आकाश को और नीचे भूमि को छूकर, स्थित है अर्थात् ऊर्ध्व, मध्य और अधो-लोक का स्पर्श करता है, जिसके चारों ओर सूर्यादि ज्योतिष गग घूमते रहते हैं। वह सुनहरे रंग का है और मन को बहुत ही नंदित=हर्षित करने वाला है अथवा उसपर नंदादि बहुत से वन हैं, जहां पर बड़े-बड़े इन्द्र भी क्रीड़ा करके आनन्द का अनुभव करते हैं।

टिप्पणी—जिस प्रकार विशालकाय मेरु-पर्वत तीनों लोकों का स्पर्श कर रहा है, पर भूमि में ही स्थित है,—उसी प्रकार भगवान अपने यश रूपी शरीर से तीनों लोक में व्याप्त होकर भी अपनी आत्मा में स्थिर थे। मेरु के ऊपर के चार वन (भद्रशाल, सौमनस, नंदन और पण्डक)

के समान प्रभु में अनन्त चतुष्टय (ज्ञान, दर्शन, शक्ति, सुख) प्रकट होकर अथवा चार अतिशय (ज्ञानातिशय, अपायापगमातिशय=निर्दोषत्त्वातिशय, वचनातिशय और पूजातिशय) प्रकट होकर, प्राणियों को-भव्यों को आनन्दित करते थे। मेरु के चारों ओर ग्रहगण के चक्कर काटने के समान प्रभु के पास देवगण चक्कर लगाते रहते थे। भगवान का वर्ण भी सुनहरा था। मेरु पर्वत के तीन काण्ड हैं वैसे ही भगवान त्रिरत्न (सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य) के धारी थे और मेरु की पंडक वन रूप वैजयन्ती के समान यथाख्यात चारित्र्य रूप वैजयन्ती से युक्त थे।

से पव्वए सद्दमहप्पगासे, विरायती कंचणमट्ठवण्णे।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे, गिरिवरे से जलिए व भोमे॥
महीए मज्झंमि ठिए णागिंदे, पन्नायते सूरिय-सुद्धलेस्से।
एवं सिरीए उ स भूरिवण्णे, मणोरमे जोयइ अच्चिमाली॥

अनेक सुन्दर नामों से प्रसिद्ध या शब्दों से गुंजायमान वह पर्वत शुद्ध सुनहरे रंग से शोभायमान है और पर्वतों में सर्व श्रेष्ठ, पर्वत-मेखला के कारण दुर्गम, वह गिरिराज जलते हुए भूभाग के समान या मंगल ग्रह के समान शोभित है॥ १२॥

वह नगेन्द्र=पर्वतराज पृथ्वी के मध्य भाग-केन्द्र में स्थित है और सूर्य के समान शुद्ध तेज वाला जाना जाता है। इस प्रकार वह विचित्र रत्न-मणियों के विविध रंगों वाला, शोभा से युक्त, मनोरम और सूर्य की तरह प्रकाशित है अथवा

उस पर सूर्य की किरणे गिरने से विविध रंगों की झलक होती है जिससे उसकी श्री शोभा मन को अपने में लीन कर लेती है ॥ १३ ॥

सुदंसणस्सेव जसो गिरिस्स, पवुच्चई महतो पव्वयस्स ।
एतोवमे समणे नायपुत्ते, जाती-जसो-दंसणनाणसीले ॥१४॥

महान् पर्वत सुदर्शन गिरिका जैसा यश कहा जाता है, ठीक यही उपमा ज्ञातपुत्र, श्रमण भगवान् महावीर के लिये है, वे जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शीलधारियों में सर्वोत्तम थे ।

टिप्पणी—सुमेरु के सुदर्शन, शोभन दर्शन, मंदराचल, स्वर्णाचल, नगेन्द्र, गिरिराज, हेमाद्रि आदि अनेक सुन्दर नाम हैं वैसे ही भगवान् के सन्मति, देवार्य, ज्ञातपुत्र, वैशालीय, काश्यप, महावीर, वर्द्धमान, त्रैशलेय आदि अनेक नाम हैं अथवा सुमेरु दिव्य संगीत से गुंजित होता रहता है वैसे ही भगवान् दिव्य वाणी प्रकाशित करते हैं । सुमेरु स्वर्ण के रंग-सा शोभित है, वैसे ही भगवान् की देह से कान्ति प्रसरित होती रहती थी । जैसे पर्वतों में मेरू अनुत्तर है, वैसे ही धर्म स्थापकों में महावीर अनुत्तर थे । जैसे पर्वत श्रेणियों के कारण मेरु दुर्गम है, वैसे ही भगवान स्याद्वाद के कारण दुर्विजेय थे । मेरु जलते हुए वर्ण-से मंगल के समान है वैसे ही भगवान तप से तेजस्वी थे । पृथ्वी के केन्द्र-स्थल में मेरु स्थित है वैसे ही भगवान तीर्थंकर होते हुए भी निजात्म में स्थिर थे । निजत्व में स्थिर होने पर भी वे भौतिक स्वार्थों से परे थे, अत: मेरु के सूर्य-से शुद्ध तेजके समान वे प्रशस्त

लेश्या वाले थे। प्रशस्तलेश्या में अग्रसर होने पर उनमें सूर्य के समान दिव्य ज्ञान का प्रकाश हुआ, जिससे वस्तुओं के अनंत धर्म उनकी आत्मा में झलकने लगे—अत: उनकी आत्मा की श्री-लक्ष्मी बढ़ गई—जिस प्रकार कि अर्चिमाली के संयोग से मेरु के अन्दर की विवध मणियों के रंग चमकने लगते हैं और वह मनको अपने में रमा लेता है। अतः प्रभु के ध्यान से प्राणी भी अन्तर्मुख बनकर, आनंदानुभव करने लग जाते हैं।

गिरीवरे वा निसहाऽऽययाणं, रुयए व सेट्ठे वलयायताणं।
तओवमे से जगभूइपन्ने, मुणीण मज्झे तमुदाहु पन्ने ॥

लम्बे पर्वतों में निषध पर्वत और वर्तुल-गोल पर्वतों में रुचक पर्वत जैसे श्रेष्ठ है, ठीक उन्हीं के समान, जगत् मे अनंत बुद्धिमान भगवान् को, मुनियों में श्रेष्ठ, बुद्धिमान् पुरुष बताते हैं ॥ १५ ॥

अणुत्तरं धम्म मुईरइत्ता, अणुत्तरं झाणवरं झियाइं।
सुसुक्कसुक्कं अपगंड सुक्कं, संखिंदुएगंत-वदात-सुक्कं ॥

भगवान सर्व श्रेष्ठ धर्म बताकर भी अपने सर्व श्रेष्ठ आत्मध्यान में ही लीन रहते थे (कोई उनके मत को माने या न माने—उन्हें किसी प्रकार का आग्रह नहीं था।) वे तो सदा शंख और चन्द्रमा के समान निर्मल ध्यान मे मग्न रहते थे। शंख और चन्द्रमा की सफेदी की निर्मलता में किसी प्रकार का दूषण भी हो सकता है, पर भगवान का ध्यान तो बिलकुल निर्दोष था अर्थात् उनके हृदय में किसी भी प्रकार

की मलिनता का प्रकट होना असंभव था ॥१६॥

अणुत्तरग्गं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।
सिद्धिं गते साइमणंतपत्ते, नाणेण सीलेण य दंसणेण ।१७।

महर्षि भगवान महावीर ने ज्ञान, शील और दर्शन के द्वारा समस्त कर्मों का शोधन या नाश करके ऐसी सिद्धि गति को प्राप्त की, जिससे परे अन्य गति नहीं है अर्थात् जो परम और श्रेष्ठ गति है, उसकी एक बार प्राप्ति हो जाने पर, वह नष्ट नहीं होती अर्थात् भगवान् नयेपन-पुरानेपन से परे हो चुके हैं ॥ १७ ॥

रुक्खेसु णाए जह सामली वा, जस्सिं रतिं वेदयती सुवन्ना ।
वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं, नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने ।१८।

जैसे वृक्षों में शाल्मली वृक्ष श्रेष्ठ है, जिसपर 'सुपर्ण' नामक जाति के देव क्रीड़ा करके आनन्द का अनुभव करते हैं और वनों मे नन्दनवन श्रेष्ठ है वैसे ही प्रज्ञा-सम्पन्न महावीर ज्ञान और शील से जगत में श्रेष्ठ थे या जगत् में आनन्द वितरण करते थे—(और जब तक उनका शासन प्रवर्तित रहेगा तब तक उनका ज्ञान-शील भव्य-प्राणियों के आनन्द-वर्द्धन में सहायक होता रहेगा ।)

थणियं व सद्दाण अणुत्तरे उ, चंदो व ताराण महाणुभावे ।
गंधेसुवा चंदणमाहु सेट्ठं, एवं मुणीणं अपडिन्नमाहु ।१९।

जैसे शब्दों में मेघगर्जना गम्भीर है, नक्षत्रों मे चन्द्र अपनी सौम्यता से गौरवशाली है और सुवासित पदार्थों में

चन्दन श्रेष्ठ है, वैसे ही कामना से रहित प्रभु भी मुनियों में श्रेष्ठ थे (अर्थात प्रभु की गम्भीर वाणी, प्रभु के भावों की सौम्यता और विशालता उनके सुरभित जीवन की सुवास, भव्य-प्राणियों में से कई को अपने समान बनाने की शक्ति, सर्व श्रेष्ठ थी)

जहा संयभू उदहीण सेट्ठे, नागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठे।
खोओदए वा रस वेजयंते, तवोवहाणे मुणि वेजयंते।२०।

जैसे समुद्रों मे स्वयंभूरमण समुद्र श्रेष्ठ है, नागकुमार देवताओं में धरणेन्द्र श्रेष्ठ है और इक्षुरस सागर का जल सब रसों को जीत लेता है वैसे ही महामुनि महावीर अपने महान् तप के द्वारा विजय पताका फहरा रहे थे (अर्थात तप की विशाल स्वाधीनता, श्रेष्ठ ग्राहकता और परम मधुरता के कारण उनकी कोई बरावरी करने वाला नहीं था।)

हत्थीसु एरावणमाहु णाए, सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा।
पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवो, निव्वाणवादीणिह णायपुत्ते॥

जैसे, हाथियों में ऐरावण, मृग=पशुओं में सिंह, नदियों मे गंगा और पक्षियों में गरुड़ वेणुदेव श्रेष्ठ–प्रसिद्ध है वैसे ही निर्वाण वादियों में ज्ञातपुत्र श्रेष्ठ हैं (अर्थात् सत्य सिद्धान्त के गौरव को धारण करने मे समर्थ, उसके प्रकाशन करने में सिंह के समान निर्भय, लोकख्यात पवित्र गंगा के समान पक्षपात रहित और गगन में उड़ान भरने में अपूर्व शक्तिशाली वेणुदेव गरुड़ के समान वादियों के कुतर्कों के

पार पहुंचने में प्रभु समर्थ थे ।) ॥२१॥

जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु ।
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥२२॥

जैसे योधाओं में विश्वसेन, फूलों में कमल, क्षत्रियों में दंतवक्र श्रेष्ठ कहे जाते हैं वैसे ही ऋषियों मे वर्द्धमान स्वामी श्रेष्ठ थे (अर्थात प्रभु में श्रेष्ठ योद्धा के शौर्य का, कमल की कोमलता; क्षत्रियों में श्रेष्ठ वाक्चतुर के धैर्य का सुन्दर संगम हुआ था ।)

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति ।
तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं, लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ॥२३॥

दानों में जैसे अभयदान, सत्य में अहिंसक वचन और तपों में ब्रह्मचर्य [स्व–पर हित के साधक होने के कारण] श्रेष्ठ उत्तम है वैसे ही श्रमण भगवान महावीर लोक में उत्तम थे ।

ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा, सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा ।
निव्वाणसेट्ठा जह सव्व–धम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी

जैसे अधिक स्थिति (आयु) वालों में लव सप्तम (अनुत्तर विमान-वासी) देव, सभा में सुधर्म्म सभा और सब धर्मों में निर्वाण श्रेष्ठ है वैसे ही ज्ञातपुत्र से बढ़कर कोई ज्ञानी नहीं है ॥ २४ ॥.

टिप्पणी—अनुत्तर विमान–वासी देवों को 'लव-सप्तम' इसलिये कहते हैं कि अगर अनुत्तर विमान में उत्पन्न

होने के पहले के मनुष्य भव में उनकी आयु एक लव मात्र अधिक होता तो। (लव=मुहूर्त का सतहत्तरवां हिस्सा अर्थात् ४८ मिनिट से कुछ अधिक।) वे उसी भव में सिद्ध हो जाते-ऐसा कहा जाता है। एक लव मात्र आयु की मनुष्य भव की कमी के कारण, तैंतीस सागर से अधिक कालका उनके मुक्त होने में विलम्ब हो जाता है अर्थात् वे मुक्ति के समीप का, बाह्य साधनों से—भौतिकता से रहित बहुत कुछ आत्मिक सुखका अनुभव करते हैं। अतः अधिक स्थितिवालों में वे स्वाभाविक ही श्रेष्ठ हैं।

पुढोवमे धुणइ विगयगेही, न मण्णिहिं कुव्वइ आसुपन्ने।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं, अभयंकरे वीर अणंत चक्खू॥

अनासक्त=भोगों में अलिप्त भगवान् ने पृथ्वी के समान सब कुछ सहन करके, कर्मों को धुनक डाले थे—नष्ट कर दिये थे। वे आशुप्रज्ञ=दिव्यज्ञानी संसर्ग अथवा आवेश नहीं करते थे। उन अभयंकर=अभयदानी, और अनंतचक्षु=अनंत-ज्ञानी वीर ने अपने भुजबल से समुद्र के समान संसार महा-प्रवाह को तैरकर पार कर लिया था॥ २५॥

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एयाणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वई पाव ण कारवेइ॥

अर्हन्त महर्षि महावीर क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार आत्मिक दोषों का त्यागकर, पापों से दूर हो गये थे और दूसरों से भी पाप नहीं करवाते थे॥ २६॥

किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्ववायं इति वेयइत्ता, उवट्ठिए संजम दीहरायं ॥२७॥

वे भगवान, सब वादों की विचारधाराओं को, क्रिया वाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद इन चार विभागों में चतुराई से विभाजित करके कुशलता से उनके भेदोपभेदों को समझाते थे और बहुत लम्बे समय तक=जीवन पर्यंत संयम में स्थिर रहे थे अर्थात् उनकी कथनी और करणी मे अंतर नहीं था ॥२७॥

से वारिया इत्थि सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्ख खयट्ठयाए।
लोगं विदित्ता आरं परं च, सव्वं पभू वारिय सव्व वारं॥

उन्होंने रात्रि भोजन और स्त्री संग को त्याग दिया और वे दुःखों को क्षय करने के लिये तपस्या में लीन हो गये थे। (द्रव्य, क्षेत्र, काल. भव, भाव आदि) लोक को आर पार या अच्छी तरह जानकर, प्रभु ने सारे भव--प्रवाह को उलट दिया था-उसका निरोध कर दिया था ॥२८॥

सोच्चा य धम्मं अरहंत भासियं, समाहितं अट्ठ पदोव सुद्धं।
तं सद्दहाणा य जणा अणाऊ, इंदाव देवाहिव आगमिस्संति॥

। त्तिबेमि ।

ऐसे अर्हत से कथित, चित्त का समाधान करनेवाले और अर्थ और पद से शुद्ध धर्म को सुनकर, उस पर श्रद्धा करने वाले जीव मुक्त हो जाते हैं अथवा इन्द्र या कई देवों के

स्वामी होकर अगले भवों में सिद्ध होंगे ॥२९॥

छट्ठा अध्ययन समाप्त



सातवाँ अध्ययन

(कुशील परिभाषा=दुश्चारित्र)

पिछले अध्ययन में भगवान की स्तुति के जरिये शील का आदर्श उपस्थित किया गया था अब इस अध्ययन में शील के निष्कृष्टतम रूपों को बताया जायगा।

पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ, तण रुक्ख बीया य तसा य पाणा।
जे अंडया जे य जराउ पाणा, संसेयया जे रसयाभिहाणा ॥१॥
एयाइं कायाइं पवेदिताइं, एतेसु जाणे पडिलेह सायं।
एतेण काएण य आयदंडे, एतेसु या विप्परियासुविंति ॥२॥

पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा, तृण, वृक्ष, बीज और त्रस प्राणी अण्डज=अण्डे से उत्पन्न (पक्षी आदि), जरायुज=जर से युक्त उत्पन्न (मनुष्य, गाय आदि), स्वेदज=पसीने से (कृमि, जूं, खटमल आदि) रसज=रससे उत्पन्न, आदि... नाम वाले ॥१॥

इन समूहों को सर्वज्ञों ने प्राणियों की काया कही है।

ये सभी जीव सुख चाहते हैं---यह सही समझो। इन प्राणियों के नाश से जो अपनी आत्मा को दण्डित करते हैं, उनको फिर इन्हीं देहों को धारण करना पड़ता है। अथवा विकलांग होकर इनमें ही जनमते-मरते हैं ॥२॥

जाईपहं अणुपरिवट्टमाणे, तसथावरेहिं विणिघायमेति ।
से जाति जातिं बहुकूरकम्मे, जं कुव्वन्ती मिज्जति तेण बाले ॥

इसप्रकार वह जन्म की भूल-भुलैया में वार-बार चक्कर खाता रहता है और त्रस-स्थावर प्राणियों के द्वारा विनाश को प्राप्त करता रहता है। वह (राग-द्वेष के कारण) फिर जन्म लेता है और क्रूर कर्म करता है। वह अज्ञानी जो कर्म करता है, उनसे ही मरता है (अर्थात वैर की घटमाला का अंत नहीं आ पाता और न दुःख का ही अभाव होता है—कर्म से कर्म बढ़ते जाते हैं।) ॥३।

अस्सिं च लोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा।
संसार मावन्न परं परं ते, बंधंति वेदंति य दुन्नियाणि ॥४॥

कई कर्म इसी लोक मे फल जाते हैं, कई अगले भव में, तो कई सैकड़ों से भी अधिक भवों में फलते हैं। कई जैसे किये थे वैसे ही भोगने पड़ते हैं, तो कई दूसरी तरह से भी। संसार-चक्र में फंसे हुए प्राणी खराब से खराब दुष्कर्मों को बाधते और भोगते रहते हैं ॥४॥

जे मायरं वा पियरं च हिच्चा, समणव्वए अगणिं समारभिज्जा।
अहाहुसे लोए कुसील धम्मे, भूताइं जे हिंसति आयसाए ।५।

संबुज्झहा जंतवो ! माणुसत्तं, दट्ठुं भयं वालिसेणं अलंभो ।
एगंत दुक्खे जरिए व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥

हे प्राणियों मनुष्यत्व को समझो-यह भय देखकर कि अज्ञ पुरुष को समझ-शक्ति नही मिल सकती है (अथवा हे शिष्यों निम्न भयको देखकर जड़ता को छोड़ दो कि) यहलोक अति दुःख से जर्जर है और अपने ही कर्म से विभाव में रम रहा है ॥११॥

इहेग मूढा पयर्यंति मोक्खं. आहार-संपज्जण-वज्जणेणं ।
एगे य सीओदग-सेवणेणं. हुएण एगे पवयंति मोक्खं ॥

कोई मोही आहार में रस पैदा करने वाले पदार्थ=नमक के छोड़ने से मोक्ष होना बतलाते हैं, तो कोई शीतल जल के सेवन से और कोई होम-हवन से मोक्ष होना वतलाते हैं ।१२।

पाओ सिणाणादिसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्सअणासएणं ।
ते मज्ज-मंसं लसुणं च भोच्चा, अनत्थ वासं परिकप्पयंति ॥

प्रभात में स्नानादि करने से ही मोक्ष नहीं हो जाता और न क्षार--नमक खाना छोडने से ही; क्योंकि वे मद्य, मांस और लशुन आदि को भोगकर, अपने लिये मोक्ष के सिवाय कोई दूसरा ही निवास-स्थान बना रहे हैं ॥१३॥

उदगेण जे सिद्धि-मुदाहरंति, सायं च पायं उदगं फुसंता ।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झिंसु पाणा बहवे दगंसि ।

यदि सुबह और शामको जल के स्पर्श (सध्यात्रयी में स्नान और संध्या-क्रिया में अंगों को जल से स्पर्श करने)

से सिद्धि की प्राप्ति होती है, तो हमेशा जल में रहने वाले बहुत से जलचर प्राणियों को सिद्धि मिल जानी चाहिए ।।१४।।

मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य, मग्गू य उट्टा दगरक्खसा य ।
अट्ठाण-मेयं कुसला वयंति, उदगेण जे सिद्धि--मुदाहरंति ।।

मच्छ, कछुए, सरीसृप, मद्गव, जलऊँट, और जल राक्षस ये जलमें ही रहते हैं। (पर इन्हें सिद्धि नहीं हुई। अतः—) कुशल पुरुष कहते हैं कि जो जलसे सिद्धि होना बताते हैं उनका कहना अस्थानीय है अर्थात् अयोग्य है।।१५।

उदयं जइ कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामित्त मेव ।
अंधं व णेयार-मणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा ।।

यदि जल से पाप धुल जाते हैं तो सुख=पुण्य फल भी धुल जाना चाहिए। (परन्तु यह बात तो उन्हें मान्य नहीं है)। अत: वे अपनी कामना--इच्छा की अनुकूलता (मैत्री) में ही सिद्धि- प्राप्ति बताते हैं। पर वस्तुतः वे मंद परमार्थ नेत्र से रहित अंधे आगेवान का अनुसरण करके प्राणियों की हिंसा करते हैं ।१६।

पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि, सिओदगं तू जइ तं हरिज्जा ।
सिज्झिसु एगे दगसत्तघाती. मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु ।।

यदि शीतल जल पाप कर्म करते हुए पुरुष के पापों को हर लेता है तो फिर [जल में रहकर] जलचर प्राणियों के घातक मच्छुए को भी सिद्धि मिल जानी चाहिए। (पर यह बात उन्हें मान्य नहीं हो सकती)। अतः 'जलसे

सिद्धि' होने का कथन असत्य सिद्ध होता है ॥१७॥

हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं च अगणिं फुसंता।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा,अगणिं फुसंताण कुकम्मिणंपि॥

जो शाम--सुवह में हवन के द्वारा अग्नि को स्पर्श करने पर सिद्धि होना वतलाते हैं, तो फिर नित्य अग्निका स्पर्श करनेवाले लुहार--कुम्हार आदि को भी सिद्धि—लाभ हो जाना चाहिए ॥१८॥

अपरिक्ख दिट्ठं न हु (एव) सिद्धि, एहिंति ते घायमबुज्झमाणा।
भूएहि जाणं पडिलेह सायं, विज्जं गहायं तस--थावरेहिं ।१९।

उपर्यूक्त विश्वासवाले मानव, इन साधनों से सिद्धि हो सकती है या नहीं, इसकी परीक्षा किये विना ही, उन साधनों पर विश्वास कर लेते हैं। अत: वे बे समझ साधक आत्म-विनाश की दशा में पहुँच जाएँगे। इसलिये ज्ञान प्राप्त करके यह समझो कि त्रस-स्थावर सभी प्राणी सुखके ही खोजी हैं।

थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी, पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू।
तम्हा विऊ विरओ आयगुत्ते, दट्ठुं तसे या पडिसंहरेज्जा॥

जो प्राणी अकर्तव्य करते हैं उन्हें रोना पड़ता है, दुःख भोगना पडता है और भयभीत होना पडता है- यह भिक्षु अच्छी तरह से समझकर, विपरीत कार्यों से अलग हो जाय और इसीलिए विद्वान त्रस स्थावर प्राणियों को जान बुझकर हिंसा करनी छोड़ दे, एवं व्रती होकर अपनी आत्म-रक्षा करे ॥२०॥

जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे, वियडेण साहट्टु य जे सिणाइं
जे धोवई लूसयई व वत्थं, अहाहु ते नागणियस्स दूरे ॥

जो निर्दोष आहारादि सामग्री को छोकड़र, दूषित वस्तुओं को उपयोग मे लेता है, जोअचित जल से ही अंगों को सिकोड़कर (अर्थात भूमिपर अनजाने में पानी न गिरे ऐसे वर्तन में वैठकर) स्नान करता है, जो वनाव सिंगार के लिये वस्त्रों को धोता और छोटे-बडे करता है, वह साधु नग्न-भाव=अनासक्ति —आत्मभाव से वहुत परे है ॥२१॥

टिप्पणी—नग्न-भाव शब्द का अर्थ है-आत्माका दिगंवरत्त्व=विषय-कषाय से रहित आत्म-प्रवृत्ति, शरीर के प्रति भी वेदरकारी होना। किसी भी प्रकार की पौद्गलिकता का अनाग्रह ही असलियत में नग्नत्व है। ऐसी भाव नग्नता के आजाने पर आत्मा की मुक्ति अवश्यंभावी है। भाव नग्नता के विना द्रव्य नग्नता की मोक्ष-मार्ग में कुछ भी कीमत नहीं है। द्रव्य-नग्नत्त्व तो हर प्राणी ने अनंतवार धारण किया है।

कम्मं परिन्नाय दगंसि धीरे. वियडेण जिविज्ज य आदिमोक्खं।
से वीय कंदाइ अभुंजमाणे, विरए सिणाणाइसु इत्थियासु ।२२।

अतः जल-प्रयोग में कर्म वंधन का कारण जानकर, भिक्षु मोक्ष पर्यंत, भिक्षा में अचित्त जल लेकर, जीवन धारण करे; वह वीज-कंद न खाए और स्नान व मैथुन का भी त्याग कर दे। २२।

जे मायरं च पियरं च हिच्चा, गारं तहा पुत्त-पसुं धणं च।
कुलाइं जे धावइ साउगाइं, अहाहु से सामणियस्स दूरे ।२३।

संयम रक्षा के लिये ही मुनि आहार करे, पुराकृत पापों के प्रवाह को—वेग को रोकनेकी--नष्ट करने की इच्छा करे। दुःख आनेपर, उनके द्वारा पवित्र--निर्मल होने का ध्यान करे और रणक्षेत्र में शत्रु को हरानेवाले वीर पुरुष के समान कर्मों का दमन करे। २९ ।

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी, समागमं कंखइ अंतगस्स।
णिधूय कम्मं ण पवंचुवेइ, अक्खक्खए वा सगडं ति बेमि॥

साधु, दोनों ओर से छीले जाने वाले लकड़ी के फलग--पटिये के सामान, चारों ओर से पीड़ित होने पर भी तप से उन कष्टों का दमन करे अर्थात् राग--द्वेष से रहित होकर, तप में रत रहे; अंतक=यम, मृत्यु के आलिंगन की इच्छा करे, परन्तु संसार तरफ, अक्ष टूटी हुई गाड़ी के समान एक कदम भी न रखे—अपने कर्मों की रज उड़ा दे। ३०।

सातवाँ अध्ययन समाप्त



आठवाँ अध्ययन

(वीर्य-बल-शक्ति)

जड़ और चेतन दोनों में शक्ति है। इस शक्ति गुणके द्वारा दोनों अपना अस्तित्त्व बनाये हुए हैं। और शक्ति

के द्वारा ही दोनों का परिणमन होता है अर्थात जो द्रव्य के ध्रौव्य, उत्पाद और व्ययमें सहायक होती है वही शक्ति है। पर जड़ और चेतन दोनों की शक्ति में भेद है--भिन्नता है। जड़की शक्ति को साधारणतः गुण कहा जाता है और चेतन की शक्ति को वीर्य--बल।

जब चेतन के अस्तित्त्व में ही बल--वीर्य का प्रमुख हाथ है तब फिर चेतन--प्राणीके प्रत्येक कार्यमें इसकी झलक मिलेगी ही। हाँ, यह बात दूसरी है कि अपने--अपने उपादान के आवरण--अनावरण के कारण उसमें तर--तमता हो या उसकी गति के लक्ष्य विपरीत दशा में हो। पर प्रत्येक कार्य विना शक्ति के सम्पादित नहीं हो सकते। भव-भ्रमण भी बल-वीर्य के द्वारा ही होता है और मुक्त भी बल--वीर्य के द्वारा हो सकते हैं। इसीलिए तत्त्व-विचारक कह बैठते हैं—

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'

प्रस्तुत अध्ययन मे बलवीर्य के दोनों रूपों का वर्णन किया गया है।

दुहा वेयं सुयक्खायं, वीरियंति पवुच्चई।
किं नु वीरस्स वीरत्तं, कहं चेयं पवुच्चई ?॥ १॥

(आचार्य—) जिसे बल--वीर्य कहते हैं, उसके दो भेद प्रसिद्ध हैं अथवा सर्वज्ञ ने कहे हैं। (शिष्य—:) तो भन्ते ? दो में से वीर का सच्चा वीरत्त्व क्या है और वह दो प्रकारका कैसे कहा जाता है ? ॥ १ ॥

कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वावि सुव्वया ।
एएहिं दोहि ठाणेहिं, जेहि दीसंति मच्चिया ॥ २ ॥

कई (प्रवृत्ति प्रिय) कर्म को वीरत्व कहते हैं और सुव्रती पुरुष निष्कर्म को भी । इस प्रकार मर्त्य--मनुष्य [प्रवृत्ति--वीर्य और निर्वृत्ति वीर्य] इन दो भेदों से अलग अलग दो हिस्सों में बँटे हुए दिखाई देते हैं । २ ।

टिप्पणी—कई व्यक्ति क्रिया में प्रवृत्तिशील होने को ही वीरत्व मानते हैं और कर्म-त्याग=निवृत्ति को हीनता-कायरता और दिमागी गुलामी आदि शब्दों से अभिहित करते हैं । कई व्यक्ति जो कि ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं, वे कहते हैं— 'ईश्वर ही सबका स्रष्टा है । उसने ही वर्णाश्रम आदि धर्म बनाये हैं । अतः ईश्वर के द्वारा ही जिसको जो कर्म मिले हैं, उसे ही समर्पित करके उन्हें करते रहने में ही, आत्म सिद्धि के लिये सच्चा वीरत्व है ।' कई व्यक्ति-जो कि ईश्वर के अस्तित्व और परलोकादि को नहीं मानते हैं-वे यही मन्तव्य देंगे- 'अपने मन भाये ऐसे कार्य को करना ही सच्चा वीरत्व है; जिससे कि अपना भी भला हो और दूसरे का भी भला हो और सृष्टिका प्रवाह भी न रुके ।' इस तरह कई प्रकार की रुचि वाले अनेक प्रकार से प्रवृत्ति मार्गका ही प्रतिपादन करते हैं । जब कि अनेकांती सुव्रती पुरुष कहते हैं—'बिना वीर्य के कोई भी कार्य होना असंभव है—चाहे वह संसार-प्रवाह की गति देनेवाला कार्य हो या चाहे वह संसार-प्रवाह का शोषण करने वाला-मुक्ति के लिये किये जानेवाला कर्म हो । मानव की अपनी-अपनी रुचिके अनुसार ही उस बलका लक्ष्य होगा । अतः कर्मवीर्य [प्रवृत्ति वीर्य] और निष्कर्मवीर्य (निवृत्ति-

वीर्य) ये लक्ष्यानुसार वीर्य के दो भेद मानना योग्य है।' इस प्रकार मनुष्यों में ये दो विभाग दिखाई दे रहे हैं।

पमायं कम्म--माहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं।
तब्भावा देसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥३॥

सर्वज्ञने कर्म्म को प्रमाद कहा है और अकर्म्म को अप्रमाद अथवा प्रमाद=संसार-वर्द्धक क्रिया को कर्म्म और अप्रमाद=भव-नाशिनी क्रिया को अकर्म्म कहा है। प्रमाद और अप्रमाद के आशय से भी कर्म्म को बालवीर्य और अकर्म-निष्कर्म को पंडित वीर्य कहा जाता है।३।

सत्थमेगे तु सिक्खंता, अतिवायाय पाणिणं।
एग मंते अहिज्जंति, पाणभूय--विहेडिणो ॥ ४ ॥

कई शास्त्र (अर्थ शास्त्र=धनुर्वेद, आयुर्वेद, वित्त शास्त्र, लोकनीति, राजनीति आदि और कामशास्त्र=कोकशास्त्र पाकशास्त्र आदि और कई धर्मशास्त्र) प्राणियों की घात करना सिखाते हैं और कई शास्त्र [अथर्ववेद आदि] ऐसे मंत्रों का उपदेश देते हैं जो कि प्राण-भूत के बाधक-नाशक होते हैं।४।

टिप्पणी—इस गाथा का निम्न अर्थ भी किया जाता है—कई व्यक्ति प्राणी-घातके लिये शस्त्र विद्या सीखते हैं और कई व्यक्ति प्राण-भूतों को पराभूत-स्ववश करने के लिये मंत्र सीखते हैं।'

माइणो कट्टु माया य, काम भोग समारभे।
हंता छेत्ता पगब्भित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥ ५ ॥

इस प्रकार मायाधर पुरुष छल-कपट करते हैं (अर्थात शास्त्रों का सर्जन करके उनकी ओट लेते हैं) और काम-भोग में लग जाते हैं। वे हिंसक--छेदक और तर्क से काम-भोग को उचित ठहराने वाले हैं। दरअसल में वे अपने सुखका ही अनुसरण करते हैं (और दूसरे के सुखों की उपेक्षा करते हैं।)।५।

मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अन्तसो।
आरओ परओ वावि, दुहा वि य असंजया ॥ ६ ॥

वे पुरुष मन, वचन और काया से और अशक्त होने पर केवल हृदय से, इसलोक के लिये और परलोक के लिये दोनों तरहसे=करने और कराने मे असंयमी बन जाते हैं।६।

टिप्पणी—इस गाथा में आये हुए 'अंतसो' शब्दका अर्थ 'आखिर में-अंत में' भी हो सकता है।

वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहि रज्जई।
पावोवगा य आरंभा, दुःखफासा य अंतसो ॥ ७ ॥

असयमी अपने असंयम से वैर-भाव वढाता है अर्थात वैर करके वह प्राणियों को वैरी करता है और फिर उससे वैर--भाव से रंग जाता है। अतः आरंभ=काम-भोगोंसे होने वाली या धर्म के वहाने से होनेवाली हिंसा पाप पैदा करनेवाली है और अन्त मे वह दुःखदायी है ॥७॥

संपरायं णियच्छंति, अत्त--दुक्कड--कारिणो ।
राग--दोस--स्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहु ॥ ८ ॥

इस प्रकार वे जीव सम्पराय=एक कर्म से दूसरे कर्म को पैदा करने वाले संसार--संसृति या भव परम्पराको प्राप्त होते हैं। और आत्माके लिये दुष्कृत=बुरा करनेवाले तथा राग--द्वेष में बंधे हुए वे बाल जीव बहुत से पाप करते रहते हैं ॥८॥

एयं सकम्मविरियं, बालाणं तु पवेदितं ।
इत्तो अकम्मविरियं, पंडियाणं सुणेह मे ॥ ९ ॥

यह बाल जीवोंका सकर्म वीर्य कहा गया है। अब पण्डितों का अकर्म वीर्य मुझसे सुनिये ॥९॥

दव्विए बंधणुम्मुक्के, सव्वओ छिन्न बंधणे ।
पणोल्ल पावगं कम्मं, सल्लं कंतइ अंतसो ॥ १० ॥

भव्य पुरुष, बंधन से उन्मुक्त यानी अनासक्त और अमूर्च्छित होकर, सभी प्रकार के बंधनो को नष्ट कर देते हैं और पाप कर्म को दूर करके, आखिर शल्योंको—आत्माके कष्टों को काट देते हैं। १०।

नेयाउयं सुयक्खायं, उवादाय समीहए ।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुहत्तं तहा तहा ॥ ११ ॥
ठाणी विविह-ठाणाणि, चइस्संति ण संसओ ।
अणियते अयं वासे, णायएहि सुहीहि य ॥ १२ ॥

कितने ही अंशों में मन पर भी काबू किया जा सकता है। वह बात पाश्चात्य विद्वान भी मानते हैं।

"A would be psycholo-gist must first learn, not to make any movement of the body with out any reason."

अर्थात्—जो व्यक्ति मानसिक शक्ति से सम्पन्न होना चाहता है वह पहले यह सीखे कि अकारण अपना अंग संचालित न होने दे।

अणु माणं च मायं च, तं परिन्नाय पंडिए।
साता-गारव-णिहुए, उवसंते णिहे चरे ॥१८॥

पंडित पुरुष लेश मात्र मान और माया (छल-कपट) को भी छोड़ दे—उनसे उत्पन्न होनेवाली बुराइयों को समझकर। सुखशीलता का त्याग कर दे। शान्त और निरीच्छ होकर आचरण करे॥ १८॥

पाणे य णाइवाएज्जा, अदिन्नं पि य णायए।
साइयं ण मुसं बुया, एस धम्मे वुसीमओ ॥१९॥

पंडित पुरुष प्राणियों की हिंसा न करे। अदत्त--नहीं दी हुई वस्तु ग्रहण न करे। मायामृषा (विश्वासघात) न करे। यह पंडितवीर्य–अकर्म वीर्य वाले पुरुषका धर्म है॥१९॥

अतिक्कम्मंति वायाए, मणसा वि न पत्थए।
सव्वओ संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे ॥२०॥

पंडित पुरुष धर्मका वचन से तो उल्लंघन नहीं करता है, पर मनमें भी उसके उल्लंघन का विचार नहीं आने देता।

सब ओर से—आन्तरिक और बाह्य—अपनी वृत्तियों को संकुचित करके, आत्म-दमन करता हुआ वह आदान-मन वचन और काया की क्रिया की ग्राहक शक्ति को कल्याण की ओर मोड़ देता है ॥ २० ॥

कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं ।
सव्वं तं णाणुजाणंति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥२१॥

आत्म-गुप्त जितेन्द्रिय पुरुष, गये काल में किये हुए, वर्त्तमान काल में होते हुए और आगामी काल में होने वाले सभी पाप कर्मों का अनुमोदन नहीं करता है ॥ २१ ॥

जे याऽबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्त-दंसिणो ।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥२२॥

लोक में पूजित या महावीर समझे जाने वाले परन्तु अबुद्ध-अज्ञानी और असम्यक्त्व-दर्शी-तत्त्व में अश्रद्धालु पुरुष का महान (दान शीलादि का) पराक्रम भी अशुद्ध है क्योंकि वह पराक्रम सफल=पूर्ण रूप से दूसरे कर्म (पुण्यादि) को पैदा करनेवाला है ॥ २२ ॥

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा समत्तदंसिणो ।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो ॥२३॥

जो लोक-पूजित, ज्ञानी और सम्यक्त्व दर्शी वीर पुरुष हैं उनका पराक्रम शुद्ध है क्योंकि वह सर्वशः अफल= कर्म फल को नहीं देने वाला—होता है ॥ २३ ॥

तेसिं पि ण तवो सुद्धो, निक्खंता जे महाकुला ।
जं नेवन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जए ॥ २४ ॥

उनका तप भी अशुद्ध है जो दीक्षित होकर भी महाकुल=(महा + आकुल) स्व-पर के लिये भौतिक कामना से तप करनेवाले या (महा+कुल) बढ़प्पन के लिये—'हम शौर्यादि गुण से प्रसिद्ध बड़े घराने के हैं अतः अपने कुलके यश के अनुसार हमारे कर्त्तव्य होने चाहिए' यह सोचकर संयमादि क्रिया करते हैं। अतः श्लोक=अपनी प्रशंसाका अनुभव न हो और दूसरे भी अपने तप को न जाने—इस प्रकार रहे अथवा जो अपनी विशेषता न जानते हैं उन्हें अपनी यश-कीर्ति न सुनाए ॥ २४ ॥

अप्प-पिंडासि-पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए ।
खंतेऽभिनिव्वुए दंते, वीतगिद्धि सया जए ॥२५॥

सुव्रती पुरुष अल्प भोजन-पान करे और थोड़ा बोले। क्षमावान्, संयमी, आत्मा का दमन करनेवाले आसक्ति से दूर होकर सदा जयणा-यत्ना से रहे ।

झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो ।
तितिक्खं परमं णच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥ २६ ॥

॥ त्तिबेमि ॥

साधु उपर्युक्त गुणों से युक्त होकर, ध्यान-योग में अपने को लीन करके, कायाको (काया में हुई 'मैं' पन की बुद्धि को) सर्वथा छोड़ दे । इसप्रकार परम सहिष्णुता [की

कुञ्जी] को जानकर, वह पंडित पुरुष जहां तक मुक्त न हो जाय वहां तक संयम पालता रहे ॥२६॥

(आठवाँ अध्ययन समाप्त)



अध्ययन नववां

(धर्म)

धर्म क्या है ? धर्म की जरूरत क्यों है ? आदि चिरंतन प्रश्न, जबसे मानव के हृदयमें विकास की जिज्ञासा जागी, तब से होते आरहे हैं और यह भी नहीं कह सकते कि इन प्रश्नोंका सर्वथा अभाव हो जायगा अर्थात् ये प्रश्न सामूहिक अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं। इन प्रश्नों का हल व्यक्ति की अपेक्षा से होता है और वे अपने-अपने विकास के अनुसार उत्तर प्राप्त करते हैं इस प्रकार धर्म के हजारों रूप हो जाते हैं। मानसिक कल्पना और बौद्धिक तरतमता धर्म को विचित्र रूप दे देती है। अत: सत्य के विश्वासी के लिये अथवा जो समझ, विश्वास और आचरण की क्षायोपशमिकता से अनभिज्ञ है उसके सामने यह प्रश्न और अधिक ज्वलंत हो उठता है कि धर्म क्या है! उसकी क्या जरूरत है !

इस अध्ययन में इसी प्रश्न को उठाकर, इसके बाह्य

आचरण में धर्म की रूप-रेखा बताते हुए, उसके अन्तस्तल की संकेत से झाँकी बताकर, धर्म का उसके उद्देश्य के साथ सुन्दर स्वरूप चित्रित किया गया है।

कयरे धम्मे अक्खाए, माहणेण मईमया।
अंजु धम्मं जहातच्चं, जिणाणं तं सुणेह मे॥ १॥

(शिष्य 'भन्ते) मतीमान माहन=ब्राह्मण=आत्म-रक्षक धर्म किसे कहते हैं!' (आचार्य-'आयुष्मान्) राग-द्वेष रहित पुरुषों ने जिसे धर्म कहा है उस ऋजु-धर्म को तुम्हें यथातथ्य सुनाता हूँ।

माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदु वोक्कसा।
एसिया वेसिया सुद्दा, जे य आरंभ-णिस्सिया॥ २॥
परिग्गह-निविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई।
आरंभ-संभिया कामा, न ते दुक्ख-विमोयगा॥ ३॥
आघाय-किच्चमाहेउं, नाइओ विसएसिणो।
अन्ने हरंति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहिकिच्चती॥ ४॥
माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते तव ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा॥ ५॥
एयमट्ठं सपेहाए, परमट्ठाणुगामियं।
निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खू जिणाहियं॥ ६॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, वोक्कस, एषिक, वैशिक हो या कोई प्राणी हो जो आरंभ में आसक्त हैं॥ २॥

और परिग्रह मे आकण्ठ डूबे हुए हैं, वे वैर को

बढ़ाते हैं। काम-भोग आरंभ=हिंसा से निष्पन्न होते हैं। अतः उनसे दुःख दूर नहीं हो सकते ॥ ३ ॥

'व्यक्ति का अग्नि-संस्कार कर देने के बाद, विषय सांसारिक सुख की इच्छावाले उसके बंधु=बाधव या दूसरे कोई भी उसके धन को हड़प लेते हैं (अर्थात धन व्यक्ति के साथ नहीं जाता है) और उसे अपने कर्म का फल भोगना पड़ता है।४।

'माता-पिता, भाई पत्नी, पुत्र और पुत्रवधू—ये कोई भी उस समय तेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे, जब हे जीव ! तू अपने कर्म से दुःखी होगा ॥ ५ ॥

इस प्रकार उपर्युक्त अर्थ को अच्छी तरह से विचार कर, व्यक्ति ममता से रहित और अभिमान से रहित होकर भिक्षु बनकर वीतराग-कथित परमार्थ पंथ पर चल पड़े ॥ ६ ॥

चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं।
चिच्चा णँ अंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए ॥ ७ ॥

अर्थ=धन या जीविका के साधन, पुत्र, बन्धु-बांधव परिग्रह=विलास की वस्तुओं का सञ्चय और आन्तरिक सन्ताप को छोड़कर, वह व्यक्ति निरपेक्ष हो जाय अर्थात भौतिक आग्रहों से दूर हो जाय ॥ ७ ॥

पुढवी उ अगणी वाऊ, तण-रुक्ख-सबीयगा।
अंडया पोय-जराऊ, रस-संसेय- उब्भियां ॥ ८ ॥
एएहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया।
मणसा काय-वक्केणं, णारंभी ण परिग्गही ॥ ९ ॥

पृथ्वी, (पानी), अग्नि, वायु, तृण, वृक्ष, बीज; अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, स्वेदज और उद्भिज्ज।८।

इन प्राणियों को, विद्वान् व्यक्ति छः वर्गों द्वारा अच्छी तरह से समझ ले और मन, काया तथा वाणी से उनकी हिंसा नहीं करे और अपने सुख के लिये उनका सञ्चय संग्रह करना छोड़ दे ॥ ९ ॥

टिप्पणी—अण्डज=अण्डे से पैदा होने वाले-पक्षी आदि, पोतज=बच्चे रूप से पैदा होने वाले हाथी आदि, जरायुज= जर में लिपटे हुए पैदा होनेवाले मनुष्य, गाय आदि; स्वेदज= पसीने से पैदा होनेवाले खटमल आदि, रसज=दही आदि रसों में उत्पन्न होनेवाले जीव अथवा पांच रस में से किन्हीं रसों में उत्पन्न होने वाले जीव, उद्भिज्ज=खञ्जरीट, मेंढक आदि।

मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइया।
सत्थादाणाई लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया।१०।

असत्य, मैथुन और अयाचित वस्तु का लेना-ये लोक में महान् शस्त्र के समान हैं। विद्वान् पुरुष इनसे दूर होकर अच्छी तरह से जावे ॥ १० ॥

टिप्पणी—किसी वस्तु का पूर्ण ज्ञान करना हो तो उसे दूर से देखना जरूरी है यानी वस्तु से परे हटकर उसके गुण-दोष अच्छी तरह से समझे जा सकते हैं और जिससे अति परिचय है उस वस्तु के विषय में तो यह बात पूर्ण रूप से लागू होती है। दूसरे विषयों में तो एकान्त बात नहीं कही जा सकती, पर दुष्कर्मों के विषय में तो यह बात सोलहो आने सही है।

पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि य ।
धूणादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥ ११ ॥

माया, लोभ, क्रोध और मान भी जगत में कर्म बन्ध के कारण हैं । अतः विद्वान् भी सम्यक् ज्ञाता बने ।

टिप्पणी—माया, लोभ, क्रोध और मान के लिये मूल में क्रमशः ये शब्द हैं–पलिउंचण, भयणं, थंडिल और उस्सयण, जिनका शब्दार्थ निम्न है—

पलिउंचण=आत्मा में सिकुडन या वक्रता लाने वाला भाव ।

भजन=सम्पूर्ण आत्मा को झुकानेवाला भाव ।

थंडिल=आत्मा को गंदगी से भर देनेवाला भाव ।

उस्सयण=ताक-झाक करने के भाव या आत्मा की कंगाल वृत्ति ।

धोयणं रयणं चेव, वत्थीकम्मं विरेयणं ।
वमणंजण-पलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ॥१२॥

अंग आदि को धोना और रंगना, वस्तिकर्म (योग की एक प्रक्रिया) विरेचन=जुलाब, वमन के जनक और शरीर संस्कारक कार्यों को, विद्वान् पुरुष दूर से ही जाने ।

टिप्पणी—'वस्तिकर्म' का मतलब हठ योग की एक प्रक्रिया से है, जिसमें गुदा द्वार से पानी पेट के अन्दर खींचकर, अँतड़ियों का मल साफ किया जाता है । एनिमा लेना भी वस्तिकर्म में गिना जाता है और विरेचन व वमन और अंजन भी हठयोग से सम्बन्धित किन्हीं प्रक्रियाओं की

सुख रूप उपसर्ग=संयम का विघ्न रहता है। यह विद्वान पुरुष अच्छी तरह से समझ ले ॥ २८ ॥

नन्नत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए।
गाम-कुमारियं किड्डं, नाइवेलं हसे मुणी ॥ २९ ॥

साधु अकारण ग्रहस्थ के यहां न बैठ और गॉव के कुमारों की क्रीडा में मिलना तथा मर्यादा से बाहर अधिक हँसना छोड़ दे ॥ २९ ॥

अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठोतत्थ हियासए ॥ ३० ॥

साधु मनोज्ञ शब्दादि विषयों में उत्सुक न हो और उनमें यत्न पूर्वक संयम से रहे। साधु-चर्य्या में प्रमाद नहीं करे और उसमें पीड़ा आने पर सहन करे ॥ ३० ॥

हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज, वुच्चमाणो न संजले।
सुमणे अहियासिज्जा, ण य कोलाहलं करे ॥ ३१ ॥

साधु किसी के द्वारा पीटे जाने पर क्रोध नहीं करे और किसी के गाली देने पर अपने हृदय को न जलाये, या विरोध न करे; पर प्रसन्नता से सब सहन करे, होहल्ला नहीं करे ॥ ३१ ॥

लद्धे कामे न पत्थेज्जा, विवेगे एव माहिए।
आयरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ॥३२॥

प्राप्त काम-भोगों मे भी आकर्षण न हो, उसे ही विवेक कहा जाता है, अतः साधु सदा ज्ञानियों के समीप ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप और वीर्य आचार की शिक्षा प्राप्त करे ॥३२॥

सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुपन्नं सुतवस्सियं ।
वीरा जे अत्तपन्नेसी, धिइमंता जिइंदिया ॥३३॥

जो वीर पुरुष आत्म-प्रज्ञा=आत्म-बुद्धि के खोजी हैं वे धृतिमान=धीर जितेन्द्रिय होकर, सम बुद्धि वाले सम्यक् तपस्वी की सुश्रूषा करते हुए उपासना करे ॥३३॥

गिहे दीव-मपासन्ता, पुरिसादाणीया नरा ।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥३४॥

जो गृह-संसार में प्रकाश या स्थायी निवास नहीं देखते हैं, ऐसे नर सच्चे पुरुषार्थियों के उत्तम शरण-स्थान हैं, वे वीर वन्धनों से मुक्त होकर, जीवन की अभिलाषा नहीं करते हैं । (क्योंकि जीवन कर्म-आश्रित है और कर्म जड़ है, अतः जीवन की अभिलाषा, आत्म-वन्धन ग्रहण करने की—विभाव में रमण करने की इच्छा के समान है और जीवन-नाश की, इच्छा भी भौतिक निष्फलता का फल है । अतः वह भी विकृति वर्द्धक है, क्योंकि मानव-जीवन ही मुक्ति का साधन है ।)

अगिद्धे सद्द फासेसु, आरंभेसु अणिस्सिए ।
सव्वं तं समयातीतं, जमेतं लवियं बहु ॥३५॥
अइमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए ।
गारवाणि य सव्वाणि, णिव्वाणं संधए मुणि ॥३६॥

॥ त्तिबेमि ॥

साधु शब्द-स्पर्श आदि में अनाशक्त, आरम्भ से दूर होकर और इस अध्ययन में जिनका निषेध किया है तथा और

भी असंयम-स्थान जो कि सिद्धान्त के विरुद्ध है—

पण्डित पुरुष उन्हे समझते हुए छोड़कर, अतिमान, माया और सभी गौरव=आत्मा को बोझिल बनाने वाले विचारों को छोड़कर, निर्वाण का अनुसंधान करे।

टिप्पणी—इस अध्ययन में धर्म का स्वरूप बताने के लिए निषेधात्मक शैली ग्रहण की है अर्थात् 'धर्म क्या है?' इस प्रश्न के उत्तर में 'अमुक कर्त्तव्य नहीं करना चाहिए' यह कहा है और अन्त में एक वाक्य में धर्म की विधि=प्रवृत्ति के विषय में कह दिया है। वह वाक्य है—"निर्वाण का अनुसंधान करे।" यदि इसे धर्म का विधानात्मक वाक्य न कह कर, धर्म की परिभाषा के लिए 'ध्रुव वाक्य' कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। क्योंकि जैन धर्म के सारे विधि-निषेध इस वाक्य के आशय पर ही आधारित हैं—'आत्म-मुक्ति का विरोधी एक भी कर्त्तव्य मत करो—' यही जैन धर्म का सार है। इसलिए धर्म स्वरूप के प्रतिपादन में निषेधात्मक शैली ही अधिक सफल हो सकती है और एक कारण यह भी है कि निषेधात्मक शैली से त्याग-भावना पर अधिक जोर देना। क्योंकि साधक को, विवेकशील त्याग के द्वारा धर्म का, खुद को ही साक्षात करना होता है।

कुछ शब्दों में अध्ययन की सार-रूप धर्म की निम्न परिभाषा बनाई जा सकती है—'वीतराग व्यक्तियों द्वारा कथित श्रुत को समझकर, पूर्ण विश्वास के साथ, स-यत्न आत्मा के अनुकूल आचरण करना ही धर्म है।'

—ः नववां अध्ययन समाप्त ः—

दसवाँ अध्ययन

(समाधि और उसके साधन)

आघं मईमं अणुवीय धम्मं, अंजू समाहिं तमिणं सुणेह ।
अपडिन्न भिक्खू उ समाहि-पत्ते, अणियाण भूतेसु परिव्वएज्जा ।

मतिमान महावीर ने धर्म का उपदेश, उसका साक्षात करके दिया । (और अब) वीर-कथित ऋजु=सरल समाधि= आत्म-शान्ति के साधन मुझ से सुनो । आत्म-शान्ति के साधन प्राप्त होने पर, अप्रतिज्ञ=फल की कामना से रहित-निरीह भिक्षु, दुःख के कारणों को त्याग कर, प्राणियों में संयम से रहे ॥१॥

उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहि पाएहि य संजमित्ता, अदिन्न-मन्नेसु य णो गहेज्जा ॥

ऊँची, नीची और तिरछी दिशा में, जितने भी त्रस या स्थावर प्राणी निवास करते हैं, उनको हाथ-पैर से बचाने का व्रत लेकर अर्थात हाथ-पैर से होने वाले व्यापारों में संयम ग्रहण करके, अदत्त वस्तु को और दूसरे असंयमों में से किसी भी असंयम को न ग्रहण करे ॥२॥

टिप्पणी—हाथ-पैर शरीर के अधिक सक्रिय दिखाई देने वाले अंग हैं। अतः इनके व्यापारों के ग्रहण से शरीर के अन्य अंगों के सुक्ष्म व्यापारों का ग्रहण स्वतः हो जाता

है। शरीर से भिन्न मन और वचन की स्थिति असम्भव है। अतः मन और वाणी को भी शरीर के अंग समझना चाहिए।

सुयक्खाय-धम्मे वितिगिच्छ-तिण्णे,
लाढे चरे आयतुले पयासु।
आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी,
चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू ॥३॥

साधु पुरुष श्रुत में कहे हुए धर्म से युक्त होकर अर्थात् श्रुत-अराधना=शास्त्रों का अभ्यास करके, संकल्प-विकल्पों से या घृणा से पार=दूर होकर, नियमानुसार रहते हुए, प्राणियों में आत्म-तुल्य व्यवहार करे, यहां जीविकार्थी होकर किसी प्रकार की आय=जीवन के साधनों को संग्रह करने का जरिया स्वीकार न करे और न किसी प्रकार संग्रह ही करे, पर उत्तम तपस्वी और मधुकरी वृत्ति से गुजारा करने वाला होकर रहे।

टिप्पणी—आत्म शांति के चार साधन उपर्युक्त गाथा में बताये हैं, ये चार साधन ही मुख्य हैं—(१) ज्ञानाध्ययन, (२) विश्वास या विनय, (३) आत्म-तुल्य व्यवहार और (४) तपश्चरण व आजीविका की निश्चिन्तता यानी अकिञ्चन वृत्ति। ये चारों साधन साथ में रहकर ही, लक्ष्य वेध में सफल हो सकते हैं।

सव्विंदिया-भिनिव्वुडे पयासु, चरे मुणी सव्वउ विप्पमुक्के।
पासाहि पाणे य पुढो वि सत्ते, दुक्खेण अट्टे परितप्पमाणे॥

मुनि प्राणियों में या स्त्रियों में अपनी इन्द्रियों को संय-

मित रक्खे और सभी बन्धनों से मुक्त होकर चारित्र्य में रत रहे, यह देखो कि सभी प्राणी पृथक्-पृथक् (इन इन्द्रियों आदि के असंयम से दुःख से आर्त हो रहे हैं—पूरी तरह से जल रहे हैं ॥४॥

एएसु बाले य पकुव्वमाणे, आवट्टई कम्मसु पावएसु ।
अतिवायओ कीरई पावकम्मं, निउंजमाणे उ करेइ कम्मं ॥

और देखो, बाल प्राणी इन असंयमों में रहकर, इन्हें करते हुए पाप-कर्मों में गोते लगाते रहते हैं, स्वयं जीव-हिंसा से पाप करते हैं और दूसरों को भी पाप में लगाकर कर्मों का सञ्चय करते हैं ॥५॥ तथा—

आदीण-वित्ती व करेइ पावं, मंता उ एगंत-समाहिमाहु ।
बुद्धे समाही य रए विवेगे, पाणाइवाया विरए ठियप्पा ॥

वे दीनवृत्ति अपनाने वाले पुरुषों के समान भोगों के विषय में दीन हो जाते हैं। इसीलिए जिनेन्द्र ने शान्ति के साधन एकान्त=आत्माश्रित (एक=अकेला आत्मा के+अन्त =समीप) कहे हैं। अतः बुद्ध—ज्ञानी पुरुष समाधि में लीन रहे और वह विवेकी पुरुष जीव-हिंसा को त्याग कर, स्थित आत्मा बन जाय ॥६॥

सव्वं जगं तू समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा ।
उट्ठाय दीणो य पुणो विसन्नो, संपूयणं चेव सिलोयकामी ॥

जो सारे जगत के प्रति समताका चिन्तन करने वाला है, वह किसी के साथ प्रिय-अप्रिय सम्बन्ध न करे। (जो

जगत में प्रिय-अप्रिय की कल्पना करता है—) वह धर्म में तत्पर होकर भी पुनः दीन और खिन्न हो जाता है और अपनी पूजा-प्रशंसा का अभिलाषी हो जाता है ॥७॥

आहाकडं चेव निकाममीणे, नियामचारी य विसण्णमेसी ।
इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले, परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे ॥

(जो जगत में प्रिय-अप्रिय सम्बन्धों की कल्पना करता है) वह साधु आधाकर्मी आहार खाने और तुच्छ वस्तुओं की इच्छा करने लग जाता है; फिजूल के अचारण करता है और फिर विषादित हो जाता है। तब वह बाल विश्वास-शून्य (पृथक्) होकर स्त्रियों में आसक्त हो जाता है और उनका ग्रहण करने के लिये ढीठता से उद्यत हो जाता है अथवा परिग्रह का सञ्चय करने में लग जाता है ॥८॥

वेराणुगिद्धे णिचयं करेइ, इओ चुए से इहमट्ठदुग्गे ।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं, चरे मुणि सव्वउ विप्पमुक्के ॥

(परिग्रह-संचय में सफलता असफलता से) वह व्यक्ति प्राणियों से वैर बाँधकर, अपनी पाप-राशि को बढ़ा लेता है। अतः यहां से मरकर, वह दुर्गम्य दशा को प्राप्त होता है। इसलिये बुद्धिमान धर्म का विचार करके मुनि=संकल्प-विकल्प का त्यागी बनकर और सभी बन्धनों से मुक्त होकर, विचरण करे ॥९॥

आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी, असज्जमाणो य परिवएज्जा ।
णिसम्मभासी य विणीय गिद्धं, हिंसन्नियं वा ण कहं करेज्जा ॥

और उसे जीविका के लिये धनादि प्राप्त नहीं करना ाहिये, इस प्रकार अनाक्सत होकर, संयम से रहना चाहिये। ंयमी भाषक को ऐसी वातें नहीं करना चाहिये, जो आसक्ति बढ़ाने वाली और हिंसा से युक्त हो ॥१०॥

आहाकडं वा ण णिकामएज्जा, णिकामयंते य ण संथवेज्जा।
धुणे उरालं अणुवेहमाणे, चिच्चा ण सोयं अणवेक्खमाणो ॥

तथा आधाकर्मी आहार एवं अन्य व्यर्थ की इच्छाएँ नहीं करना चाहिये और तुच्छ इच्छा वाले व्यक्तियों से परिचय नहीं करना चाहिये। अनुप्रेक्षा अर्थात् मानासिक सद्व्यायाम करते हुए, प्रिय-अप्रिय भावना या स्थूल भावना (उरालं) को धुनक डाले और शोक-चिन्ता को छोड़कर, अनपेक्ष हो जाय अर्थात् आत्मा को विश्राम दे या अनपेक्षा=अपेक्षा से रहित वेपरवाह होकर, चिन्ता को छोड़कर—(शान्त हो जाय) ॥११॥

एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो न मुसंति पासं।
एसप्पमोक्खो अमुसे वरे वि, अकोहणे सच्च-रए तवस्सी ॥

साधु एकत्त्व भावना अर्थात् आत्मा के अकेलेपन का चिन्तन करे; इस प्रकार वह प्रमुक्त-शान्त हो जाता है, इसे असत्य मत समझ। इस एकत्त्व भावना में मोक्ष है—यह सत्य है। एकत्त्व-भावना श्रेष्ठ है, क्योंकि इससे व्यक्ति अक्रोधी, सत्यशील और तपस्वी वन जाता है ॥१२॥

इत्थीसु या आरय मेहुणाओ, परिग्गहं चेव अकुव्वमाणे।
उच्चावएसु विसएसु ताई, निस्संसयं भिक्खू समाहि पत्ते ॥

(एकत्त्व भावना के चिन्तन से) साधु स्त्रियों में राग रहित या मैथुन-अब्रह्म भाव से घृणा करने लग जाता है, परिग्रह के लिये अक्रियमाण हो जाता है और नाना प्रकार के विषयों में, वह भावना उसकी रक्षक बनती है। अतः वह (एकत्त्व भावना शील) भिक्षु निसन्देह समाधि प्राप्त करता है।१३।

टिप्पणी—(अ) टीकाकार ने ११वीं गाथा के उत्तरार्द्ध का यह अर्थ किया है—'निर्जरा के लिये देह कृश करे या जन्मान्तर संचित कर्म को, मोक्ष के विचार से नष्ट करदे और शरीर की परवाह किये विना, शोक-रहित होकर, शरीर के मैल के समान कर्मों को नष्ट करे।

(आ) गाथा १२वीं १३वीं का टीका-उक्त अर्थ यह है—'एकत्त्व-असहायत्त्व भावना भाए। इस एकत्त्व भावना से मोक्ष होता है। इसे झूठ मत समझो। यह एकत्त्व भावना मोक्ष है, सत्य और प्रधान अथवा भाव-समाधि है अथवा जो तपस्वी, अक्रोधी, सत्य में रत है, वही पुरुष वस्तुतः मुक्त और प्रधान है।१२। दिव्य, मनुष्य और तिर्यंच इन तीन तरह की स्त्रियों में जो मैथुन नहीं करता है, धन-धान्य आदि परिग्रह को ग्रहण नहीं करता है, नाना प्रकार के विषयों में जो अनासक्त, वह भिक्षु दूसरे की रक्षा करता हुआ, निश्चय ही भाव-समाधि को प्राप्त करता है अथवा भाव-समाधि को प्राप्त भिक्षु नाना भाँति के विषयों का सेवन नहीं करता है।'

अरइं रइं च अभिभूय भिक्खू, तणाइफासं तह सीयफासं।
उण्हं च दंसं चऽहियासएज्जा, सुब्भिं व दुब्भिं व तितिक्खएज्जा।

इस प्रकार साधु हर्ष-विषाद को छोड़कर, तृणादि स्पर्श, सरदी गर्मी और मच्छर आदि का काटना, समभाव से सहे दुर्गन्ध-सुगन्ध में भी समभाव रक्खे ॥१४॥

गुत्तो वईए य समाहि-पत्तो, लेसं समाहट्टु परिवएज्जा।
गिहं न छाए ण वि छायएज्जा, संमिस्स-भावं पयहे पयासु॥

वचन से रक्षित अर्थात मौनी व्यक्ति, समाधि पाकर, विचार-आचार (लेस) का संकोचन करके संयम से रहे। वह स्वयं न छप्पर छाए और न दूसरे से छवाए, (सुख के या धर्म के बहाने) प्रजा=जन-समूह में रहते हुए संमिश्र भाव (त्याग के बहाने भोग के भाव) को छोड़ दे ॥१५॥

जे केई लोगंमि उ अकिरिय-आया, अन्नेण पुट्ठा धुय-मादिसंति।
आरंभ सत्ता गढिया य लोए, धम्मं ण जाणंति विमोक्ख-हेउं॥

क्योंकि लोक मे जो कई पुरुष आत्मा को अक्रिय मानते हैं वे दूसरे के द्वारा पूछे जाने पर, आत्मा की निर्लेपता (धुयं) का आदेश करते हैं अथवा (टीकाकार के अनुसार) अपनी मान्यता में वे मोक्ष और उसके अभाव (बन्धन) का कथन करते हैं। परन्तु वे आरम्भ में आसक्त हैं और लोक में फँसे हुए हैं। अतः वे मोक्ष के कारण रूप धर्म को नहीं जानते हैं ॥१६॥

पुढो य छंदा इह माणवा उ, किरियाकिरीयं च पुढो य वायं।
जायस्स बालस्स पकुव्व देहं, पवड्ढई वेरमसंजयस्स ।१७।

संसार में भिन्न भिन्न रुचिवाले मनुष्य हैं, कोई क्रियावाद को मानते हैं तो कोई अक्रियावाद को। नव-जात शिशु की देह को टुकड़े-टुकड़े करके, वे असंयत जीव वैर की वृद्ध करते हैं अथवा वे असंयमी जीव स्व-पर की देहों को दुःख देने वाली क्रिया करके, वैर की वृद्धि करते हैं ॥१७॥

आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे, ममाति से साहसकारि मंदे।
अहो य राओ परितप्पमाणे, अट्टेसु मूढे अजरामरे व्व ।

मन्द प्राणी आयु-क्षय, जीवन के अन्त को भुलाकर, ममत्त्व रखते हुए, पाप-कर्म करते रहते हैं। वह अपने को अजर और अमर-सा मानकर, अर्थ-धन में मूढ़ होकर, रात दिन चिन्तित वना रहता है ॥१८॥

जहाहि वित्तं पसवो य सव्वं, जे बंधवा जे य पिया य मित्ता।
लालप्पई सेऽवि य एइ मोहं, अन्ने जणा तंसि हरंति वित्तं ।।

अतः (उपर्युक्त जन से शिक्षा लेकर) सभी धन-जन को छोड़ दो। जो भाई-बन्धु और मित्र प्रिय हैं वे परमार्थ साधन मे सहायक नहीं हो सकते। परन्तु मनुष्य इनके लिये रोता है, मोहित होता है। पर वे दूसरे जन उसके सर्वस्व का हरण कर लेते हैं। १९॥

सीहं जहा खुड्डमिगा चरंता, दूरे चरंती परिसंकमाणा।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं, दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥

जैसे विचरण करते हुए छोटे मृग, मृत्यु की आशंका से, सिंह को दूर छोड़कर, चौकड़ी भरते हैं, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष धर्म को सोचकर, पाप को दूर से ही छोड़ दे ॥२०॥

संवुज्झमाणे उ णरे मतीमं, पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइँ मत्ता, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥२१॥

धर्म को समझने वाला मतिमान व्यक्ति, अपने को पाप से निवृत्त करे—यह मानकर कि महा भयानक, वैरानुबन्धी दुःख हिंसा से उत्पन्न होते हैं ॥२१॥

मुसं न बूया मुणि अत्तगामी, निव्वाणमेयं कसिणं समाहिं ।
सयं न कुज्जा न य कार वेज्जा, करंतमन्नं पि य णाणुजाणे ॥

आत्मज्ञ अथवा आत्माचरण करने वाला मुनि झूठ न बोले । इसमें व दूसरे व्रतों में भी मुनि दोष सेवन न करे, न करावे और सेवन करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन भी न करे। क्योंकि सम्पूर्ण समाधि को ही निर्वाण कहते हैं अथवा मृषा-वाद-वर्जन ही सम्पूर्ण भाव-समाधि और निर्वाण है ('मृषा-वादवर्जनं सम्पूर्णं भावसमाधिं निर्वाणं चाहुः'-टीका०) ॥२२॥

सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा, अमुच्छिए ण य अज्झोववन्ने ।
धिइमं विमुक्के ण य पूयणट्ठी, न सिलोयगामी य परिव्वएज्जा।

[इस प्रकार त्रिकरण-त्रियोग से] कितने ही अंशों में शुद्ध हो जाने पर, फिर दूषण न लगाए। आहारादि में अनासक्त होकर, उनके निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होनेवाली विचार-तरंगों से रहित हो जाय। इस प्रकार धृतिमान धीर

पुरुष सभी माया--जाल से दूर होकर, श्लाघा की ओर गमन न करते हुए, संयम का पालन करें ॥ २३ ॥

णिक्खम्म गेहाउ निरावकंखी, कायं विउसेज्ज नियाणछिन्ने
णो जीवियं णो मरणाभिकंखी, चरेज्ज भिक्खू वलया विमुक्के
। त्तिबेमि ।

इस प्रकार घर-बार छोड़कर, फल की आकांक्षा से रहित बना हुआ व्यक्ति, भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करने के निश्चय को छिन्न=नष्ट करके, काया [शरीर में अपनेपन की प्रतीति] को छोड़ दे और जीने-मरने की आकांक्षा को त्याग-कर, वलय=सांसारिक घन,-चक्कर से दूर होकर [शान्ति--प्राप्ति के उपायों का] आचरण करे ॥ २४ ॥

दसवां अध्ययन समाप्त



ग्यारहवाँ अध्ययन

(मार्ग)

किसी निर्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करना हो या वहाँ तक पहुँचना हो तो कुछ प्रयत्न करना पड़ता है—चलना या आच-रण करना पड़ता है। प्रयत्न, गमन या आचारण का जो माध्यम होता है उसी को नाम मार्ग है। अतः मुक्ति एक

निर्दिष्ट लक्ष्य होने के कारण उसका भी मार्ग होना ही चाहिये। उसी मार्गका इस अध्ययन में कथन किया गया है।

कयरे मग्गे अक्खाए, माहणेणं मईमता।
जं मग्गं उज्जु पावित्ता, ओहं तरति दुत्तरं ॥ १ ॥

(शिष्य-) भन्ते ! माहन (आचार्य श्रेष्ठ), मतिमान [विचारक-श्रेष्ठ] महावीर ने वह कौनसा मार्ग कहा है, जिसे पाकर, दुस्तर ओघ=संसार-प्रवाह से सरलता से पार हो सकते हैं ॥ १ ॥

तं मग्गं णुत्तरं सुद्धं, सव्व-दुक्ख विमोक्खणं।
जाणासि णं जहा भिक्खू, तं णो बूहि महामुणी ।२।

हे महामुनि ! सभी दुःखों को मिटानेवाले, उस परम शुद्ध मार्ग को आप जानते हैं, उसीके अनुसार वह मार्ग हमें बताइये ॥ २ ॥

जइ णो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा।
तेसिं तु कयरं मग्गं, आइक्खेज्ज कहाहि णो ॥ ३ ॥

यदि हमें देव या मनुष्य कोई भी पूछे तो उस समय उनको कौनसा मार्ग बताना चाहिए, हमें यह बताइये ॥ ३ ॥

जइ वो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा।
तेसिमं पडिसाहिज्जा, मग्गसारं सुणेह मे ॥ ४ ॥

[आचार्य सुधर्म स्वामी]—'आयुष्मान् ! यदि तुम्हें कोई देव अथवा मनुष्य मार्ग पूछे तो उनको जो कहना चाहिए, उसका सार तुम्हें सुनाता हूँ ॥ ४ ॥'

अणुपुव्वेण महाघोरं, कासवेण पवेइयं ।
जमादाय इओ पुव्वं, समुद्दं ववहारिणो ॥ ५ ॥
अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागया ।
तं सोच्चा पडिवक्खामि, जंतवो तं सुणेह मे ॥६॥

बड़ी कठिनाई से प्राप्त होनेवाले या सम्पूर्ण होने से महाविकट (महाघोर), महावीर का बताया हुआ मार्ग, जिसे पाकर, जैसे कि समुद्र को व्यापारी पार कर जाते हैं, वैसे ही संसार से भूतकाल में' ॥ ५ ॥

कई पार होगये हैं, अभी पार होते हैं और भविष्य में पार होंगे, उसे अनुक्रम से, मेरे द्वारा सुनो । मैंने प्रभु से जो मार्ग सुना है, वही तुम्हें कह रहा हूँ ॥ ६ ॥

पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी ।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥ ७ ॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जई ॥ ८ ॥
सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया ।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अतो सव्वे न हिंसया ।९।

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, तृण, वृक्ष और सबीज में पृथक्--पृथक् जीव हैं ॥ ७ ॥

और दूसरे त्रस पाणी हैं, इसप्रकार सर्वज्ञ ने छह काय कही है'। इन जीवकायों के सिवाय, दूसरा कोई प्राणधारियों का वर्ग नहीं है ॥ ८ ॥

मतिमान् इन्हें सभी अनुयोगों [दृष्टियों–पहलुओं] से जानकर, सभी को दु:ख से आक्रान्त=दबे हुए या भयभीत देखते हैं। अतः सभी प्राणी हिंसा--घात किये जाने योग्य नहीं हैं ॥ ९ ॥

एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचण।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं विजाणिया ॥१०॥

अहिंसा का सिद्धान्त ही सर्व श्रेष्ठ है, अतः इसे ही जानना चाहिए। क्योंकि ज्ञानियों के आचरण का सार यही है कि वे किसी की हिंसा नहीं करते हैं ॥ १० ॥

उड्ढं अहे य तिरियं, जे केइ तस-थावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाण-माहियं ॥११॥

ऊँचे, नीचे और तिरछे लोक में जितने भी त्रस–स्थावर प्राणी हैं, उनमें सर्वत्र संयम (विरति) धारण करना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने पर ही अर्थात् संपूर्ण संवर या शान्ति को निर्वाण कहा गया है ॥ ११ ॥

पभू दोसे निराकिच्चा, ण विरुज्झेज्ज केणई।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ॥ १२ ॥

व्यक्ति उपर्युक्त तरीके से प्रभु यानी समर्थ होकर, दोषों को हटाकर, मन, वचन और काया से किसी के साथ विरोध–भाव न रखे ॥ १२ ॥

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तसणं चरे।
एसणासमिए णिच्चं, वज्जयंते अणेसणं ॥ १३ ॥

वह संवृत व्यक्ति बड़ा बुद्धिमान और धीर है जो गृहस्थ द्वारा दिया हुआ एषणीय=संयमी के योग्य आहार आदि ग्रहण करता है और सदा एषणा-समिति से युक्त होकर अनेषणीय वस्तुओं का वर्जन करता है ॥ १३ ॥

टिप्पणी—एषणा समिति के ग्रहण से दूसरी चारों समितियों का ग्रहण हो जाता है। क्योंकि एषणा के कारण ही चलना, बोलना, उठाना, धरना और त्यागना होता है।

भूयाइं च समारंभ, तमुद्दिस्सा य जं कडं।
तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्न-पाणं सुसंजए।१४।

उत्तम संयमी, ऐसे आहार को ग्रहण न करे, जो प्राणियों के आरंभ से और उसके निमित्त से बनाया है।

पूईकम्मं न सेविज्जा, एस धम्मे वुसीमओ।
जे किंचि अभिकंखेज्जा, सव्वसो तं न कप्पए।१५।

संयमवान् का यह धर्म है कि वह पूतिकर्म का सेवन न करे और यदि आहार के विषय में थोड़ी भी शंका हो जाय तो उसे लेना योग्य नहीं है ॥ १५ ॥

हणंतं णाणुजाणेज्जा, आय-गुत्ते जिइंदिए।
ठाणाइं संति सड्ढीणं, गामेसु नगरेसु वा ॥ १६ ॥

क्योंकि आत्म-रक्षक, जितेन्द्रिय पुरुष को हिंसा का अनुमोदन नहीं करना चाहिए। परन्तु गावों में और नगरों में श्रद्धालुओं के यहाँ ऐसे कई प्रसंग उपस्थित होते हैं।

तहा गिरं समारब्भ, अत्थि पुण्णंति णो वए।
अहवा नत्थि पुण्णंति, एवमेयं महब्भयं ।१७।
दाणट्ठया य जे पाणा, हम्मंति तस थावरा।
तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थि त्ति णो वए ।१८।
जेसि तं उवकप्पंति, अन्न पाणं तहाविहं।
तेसिं लाभंतरायंति, तम्हा णत्थि त्ति णो वए ।१९।
जे य दाणं पसंसंति, वह मिच्छंति पाणिणं।
जे य णं पडिसेहंति, वित्ति-च्छेयं करंति ते ॥२०॥

(जब साधु आहार नहीं लेते हैं तब गृहस्थ कारण पूछते हैं और साधु के आहार की अकलपनीयता बता देने पर, वे 'इस दान में पुण्य है या पाप' यह पूछ बैठते हैं। उस प्रसंग का संकेत करते हुए सूत्रकार कहते हैं)—'सत्र आदि दान-प्रवृत्ति में पुण्य है या पाप ?'—गृहस्थ से इस प्रकार की वाणी सुनकर 'पुण्य' है—यह न कहे और 'पुण्य नहीं है' यह भी न कहे। क्योंकि ऐसा कहने में महान् भय है ॥१७॥

दान—सामग्री के उत्पादन से त्रस-स्थावर जीवों की जो हिंसा होती है, उन जीवों की रक्षा के लिये, उनके दान से पुण्य होता है—यह न कहना चाहिए ॥ १८ ॥

और जिनको देने के लिये, अन्न-पान आदि दान--सामग्री तैयार होती है, उन जीवों के लाभ में अन्तराय पड़ती है—यह सोचकर, उन अन्न-पान आदि के दान से पुण्य नहीं होता है- यह भी न कहना चाहिए ॥ १९ ॥

क्योंकि जो ऐसे दान की प्रशंसा करते हैं वे प्राणियों के वध की अनुमोदना–इच्छा करते हैं और जो उसका निषेध करते हैं वे प्राणियों की जीविका का छेदन–नाश करते हैं (अर्थात दोनों ही हिंसा के भागी होते हैं) ॥ २० ॥

दुहओ वि ते ण भासंति, अत्थिवा नत्थि वा पुणो ।
आयं रयस्स हेच्चा णं, निव्वाणं पाउणंति ते ।२१।

इसलिए आत्म–गुप्त संयमी दो में से कैसी भी बात नहीं कहते हैं कि 'पुण्य है' या 'नहीं है'। वे आत्मा के मल को साफ करके, निर्वाण प्राप्त करते हैं ॥ २१ ॥

निव्वाणं परमं बुद्धा, णक्खत्ताण व चंदिमा ।
तम्हा सदा जए दंते, निव्वाणं संधए मुणी ॥२२॥

निर्वाणको=स्वाश्रयी सुख को, सबसे बढ़कर मानने वाले व्यक्ति, नक्षत्रों में श्रेष्ठ चन्द्रमा के समान [प्राणियों को आह्लादक-आनन्द-दायक] हैं। इसलिये आत्मा का दमन करते हुए, जयणा=कौशल से रहिये और मुनि (भाषा के मातृस्थान संकल्प–विकल्पों को त्याग ने वाले) होकर निर्वाण= स्वाश्रयी सुख की साधना करिये ॥ २२ ॥

बुज्झमाणाण पाणाणं, किच्चंताण सकम्मुणा ।
आघाति साहु तं दीवं, पतिट्ठेसा पवुच्चई ॥ २३ ॥
आयगुत्ते सया दंत्ते, छिन्नसोए अणासवे ।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुन्न-मणेलिसं ॥ २४ ॥

तमेव अविजाणंता, अबुद्धा बुद्धमाणिणो ।
बुद्धा मोत्ति य मन्नंता, अंत एते समाहिए ॥२५॥

संसार प्रवाह में वहते हुए और कर्म से पीड़ित होते हुए प्राणियों को, साधु संदेश देते हैं । वे कहते हैं–'वह द्वीप (धर्म) है, वहाँ स्थिर हो जाओ' ॥ २३ ॥

वह साधु आत्म-गुप्त सदा अपनी प्रवृत्तियों का दमन करने वाला और अपने संसार-प्रवाह का शोषण करके, पुनः प्रवाहित होने की शक्ति को रोक देनेवाला हो तभी ऐसे अनुपम शुद्ध और परिपूर्ण धर्म का उपदेश करता है ॥ २४ ॥

इस वात से अनजान कई अबुद्ध=अल्प ज्ञानी अपने को पूर्णज्ञानी मानने वाले और दूसरों के समक्ष अपने को बुद्ध अथवा ज्ञान देनेवाला और मुक्त या संसार-प्रवाह के दुःखों से मुक्त करने वाला प्रगट करते हुए, वे समाधि से बहुत दूर हैं (अंत एते समाहिए) या स्व-पर की समाधि के अन्तक नष्ट करने वाले हैं ('अंत एते समाहिए'–यह पाठ मानने से अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है । पर असली पाठ कौन-सा है यह निर्णय करने के साधन अभी नहीं है) ॥ २५ ॥

ते य बीओदगं चेव तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
भोच्चा झाणं झियायंति, अखे यन्नाऽसमाहिया ॥२६॥

वे बीज सचित्त जल और उनके लिये बनाये हुए आहार को भोगकर, ध्यान करते हैं–ध्यान योग की साधना करते हैं, अतः वे प्राणियों के और अपने खेद-दुःख के कारणों को

नहीं जानते हैं, तब फिर समाधित शान्त कैसे कहे जा सकते हैं (अर्थात् वे ध्यान-योग की साधना करते हुए भी आर्त-ध्यान के शिकार हो जाते हैं) ॥ २६ ॥

टिप्पणी—अहिंसा आदि की अपूर्णता में किया हुआ ध्यान आत्म-शान्ति दिलाने में असमर्थ है। पर-दया की उपेक्षा में स्व-दया का रहना दुःशक्य लगता है। यह बात दूसरी है कि पर-दया में स्व-दया नियमतः नहीं रहती। परन्तु स्व-दया और पर-दया, दोनों के होने पर ही आत्म-शान्ति के यथार्थ साधनों की प्राप्ति की प्रतीति होती है, अन्यथा योगों में अर्थात मन, वचन और काया की प्रवृत्ति में, सावद्यता होने का भय है। अतः ऐसे साधक का ध्यान, आर्तता से अछूता रहना मुश्किल है।

जहा ढंका य कंका यं, कुलला मग्गुका सिही।
मच्छेसणं झियायंति, झाणं ते कलुसाधमं ॥ २७ ॥

एवं तु समणा एगे, मिच्छादिट्ठी अणारिया।
विसएसणं झियायंति, कंका वा कलुसाहमा ॥ २८ ॥

जैसे ढंक, कंक, कुलल (कुरर) आदि बक जाति के पक्षी, मच्छलियों की प्राप्ति के लिये एकाग्र होते हैं ॥ २७ ॥

वैसे ही कई मिथ्यादृष्टि-अनार्य साधक, ध्यान में (अपूर्ण त्याग के कारण) विषयों (शब्द रूप, गंध, रस और स्पर्श) का ध्यान करने लग जाते हैं। अतः अपनी चित्तवृत्ति को, कंकादि पक्षियों की एकाग्रता के समान कलुषित और

अधम बना लेते हैं ॥ २८ ॥

सुद्धं मग्गं विराहित्ता, इह मेगे य दुम्मती ।
उम्मग्ग-गता दुक्खं, घायमेसंति तं तहा ॥ २९ ॥

इस प्रकार कई दुर्मतिवाले व्यक्ति, शुद्ध मार्ग की विराधना करके, उन्मार्ग में जाते हुए दुःखी होते हैं (विषयों की प्राप्ति में अपर्याप्तता से असंतुष्ट और भोग-जनित क्लान्ति से पीड़ित व आत्म-शक्तियों से कुंठित हो जाते हैं तथा विषयों की अप्राप्ति में व्याकुल होते रहते हैं) और क्षण-क्षण में आत्म-मरण को प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

जहा आसाविणी नावं, जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागंतुं, अंतरा य विसीयति ॥ ३० ॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
सोयं कसिणमावन्ना, आगंतारो महब्भयं ॥ ३१ ॥

जैसे कोई जन्मान्ध व्यक्ति, फूटी नाव पर चढ़कर समुद्र पार करना चाहता है; परन्तु वह बीच में ही डूब मरता है ॥ ३० ॥

वैसे ही कई मिथ्यादृष्टि, अनार्य साधक, (अल्प भी आश्रवका सेवन करने पर) पूर्णतः लोक-प्रवाह में गिरकर, महाभय को प्राप्त करते हैं ॥ ३१ ॥

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं ।
तरे सोयं महाघोरं, अत्तत्ताए परिव्वए ॥ ३२ ॥

इसलिये काश्यप महावीर प्रभु के बताये हुए, इस धर्म

मार्ग को ग्रहण करके, अति विकट लोक-प्रवाह को तैर जाय—आत्म-रक्षा के लिये लोक-प्रवाह से दूर हो जाय ॥ ३२ ॥

विरए गाम-धम्मेहिं, जे केई जगई जगा ।
तेसिं अत्तुवमायाए, थामं कुव्वं परिव्वए ॥ ३३ ॥

भव्य ग्राम-धर्म अर्थात् समूह—धर्म या ऐन्द्रिक विषयों से विरत होकर=आनन्द न मानता हुआ रहे और जगत में जितने प्राणी हैं उनको अपने समान मानने की बुद्धि द्वारा, अपने को स्थिर करता हुआ, इच्छा के प्रवाह से दूर रहे ।३३।

टिप्पणी—गड्डरिया-प्रवाह से दूर होकर, आत्मौपम्य व्यवहार करने से ही इच्छा-निरोध होकर, वास्तविक आनन्द का आविर्भाव होता है अर्थात इच्छा-निरोध के दो साधन हैं, जड़ वस्तुओं में निरानन्दता की प्रतीति और समता ।

अइमाणं च मायं च, तं परिन्नाय पंडिए ।
सव्वमेयं निराकिच्चा, णिव्वाणं संधए मुणी ॥३४॥

इस प्रकार अति मान और माया को, पंडित व्यक्ति अच्छी तरह से जानकर, उन सबको छोड़कर, मुनि बनकर निर्वाण की खोज करे ॥ ३४ ॥

संधए साहुधम्मं च, पावधम्मं णिराकरे ।
उवहाण-वीरिए भिक्खू, कोहं माणं न पत्थए ॥३५॥

भिक्षु उत्तम धर्म का अनुसन्धान करे और पाप धर्म का त्याग करे । तप में अपना शौर्य—वीरत्व प्रकट करे, पर चिड़चिड़ा (क्रोधी) न बने और अभिमान भी न करे ॥३५॥

जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया ।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगती जहा ॥ ३६ ॥

क्योंकि जितने भी पूर्ण ज्ञानी हो गये हैं और जितने भी भविष्य में होंगें, उन सबका (अथवा उनके बुद्धत्व का) आधार शान्ति ही है—जैसे प्राणियों का आधार-स्थान जगती=त्रिलोक है ॥ ३६ ॥

अह णं वयमावन्नं, फासा उच्चावया फुसा ।
ण तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण वा महागिरी ॥३७॥

व्रती पुरुष के मार्ग में, अनेक प्रकार अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग आते हैं, पर उन विघ्नों में घिर जाने पर, उसे व्रत से डिगना नहीं चाहिए; जैसे कि बड़े अन्धड़ में मेरु पर्वत अडोल रहता है ॥ ३७ ॥

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे ।
निव्वुडे कालमाकंखी, एवं केवलिणो मयं ॥३८॥
॥ त्तिबेमि ॥

इस प्रकार वह संवृत=संयमी और महान् बुद्धिमान् धैर्य के साथ अकिञ्चन वृत्ति को स्वीकार करके, सभी पाप-कर्त्ता-न्यों से निर्वृत होकर, काल की पूर्णता की प्रतिक्षा करता हुआ, आत्म-चर्य्या में लीन रहे—यही केवलियों का कहा हुआ सिद्धान्त है ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—धर्म, समाधि और मार्ग इन तीनों अध्ययन में, धर्म, समाधि और मार्ग की परिभाषा बताते हुए दो

बातों पर अधिक जोर दिया है-अहिंसा और अपरिग्रह। इसमें भी अहिंसा की बात बहुत दुहराई गई है। इससे हमें जैनधर्म की एक विशेषता का संकेत मिलता है-वह है अहिंसा में ही तमाम गुणों का समावेश कर लेना। पूर्वाचार्य इसी विशेषता से प्रेरित होकर कह गये हैं कि—

जस्स दया तस्स गुणा, जस्स दया तस्स उत्तमो धम्मो।
जस्स दया सो पत्तो, जस्स दया सो जए पुज्जो ॥ १ ॥
जस्स दया सो तवसी, जस्स दया सो सील-संपत्ति।
जस्स दया सो णाणी, जस्स दया सो तस्स निव्वाणं ॥२॥

अर्थ स्पष्ट है। दया और अहिंसा एकार्थक शब्द हैं। जो केवल मानवों के लिये ही हितकारी हो वही धर्म है—यह नहीं पर=प्राणी मात्र के लिये हितकारी हो वही धर्म है। स्वाश्रय–आत्माश्रय के बिना प्राणी मात्र का हित नहीं साधा जा सकता है, अतः अकिञ्चन–वृत्ति पर जोर देना योग्य ही है। सबके हितकी बात इसीलिये कही जाती है कि पराये अहित की भावना से आत्मा की विभाव-रमणता बढ़ती है—फिर आत्म-रमणता के नाम पर जहाँ प्रवृत्ति में परदया की उपेक्षा है वहाँ स्वभाव-स्थिति को निश्चय की ओट में कल्पना की क्रीड़ा ही समझना चाहिए। इस प्रकार जिस सिद्धान्त में स्व-पर-दया का सामञ्जस्य पूर्ण समन्वय हो उसी सिद्धान्त मे और उसके अनुसार आचरणों में ही धर्म है, समाधि है और वही सच्चा मार्ग है।

ग्यारहवां अध्ययन समाप्त

बारहवाँ अध्ययन

(समवसरण=विचार-समूह या विचारक-वर्ग)

संसार में जितने व्यक्ति हैं—उन सब व्यक्तियों के सभी विचार परस्पर नहीं मिलते हैं; पर अनेक विचारों में समानता रहती है, इस प्रकार उनका समूह बन जाता है। इस प्रकार अलग अलग विचारों के अलग अलग वर्ग बन जाते हैं और विचार-भेद बढ़ता जाता है। इस विचार-भेद ने ही कलह का वीज बोया है--यह सही है, पर विचार-क्रम से ही मनन शील जीव के उत्थान का पता लगाया जा सकता है। यही कारण है कि विचार धाराओं का आत्यन्तिक विनाश कभी नहीं होता; हॉ उनके प्रवाह में मंदता—तीव्रता का भेद मौजूद रहता है। अत: यह कहने मे कोई हरकत नहीं है कि विचार प्रणालियॉ युगानुकूल चोले वदलकर, हर काल में करवटें वदलती रहती हैं। महावीर जिनेन्द्र ने ऐसी कई विचार-प्रणालियों को, मोटे तौर से चार वर्गों में विभाजित करके, उनका कथन किया है।

चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति।
किरियं अकिरियं विणियं ति तइयं, अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव।१।

विचारक या सैद्धान्तिकों के चार वर्ग हैं, जिन्हे कि वादी—प्रवादी भिन्न-भिन्न ढंग से कहते हैं। वे ये हैं-—सक्रिय

अक्रिय, वैनयिक और अज्ञानी ।।१।।

अण्णाणिया ता कुसला वि संता, असंथुया णो वितिगिच्छतिन्ना
अकोविया आहु अकोवियेहिं, अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति ।२।

अज्ञानवादी तर्क करने में चतुर होने पर भी अप्रशंसनीय हैं या असम्बद्ध प्रलापी हैं क्योंकि वे स्वयं शंका से परे नहीं हो सके हैं। अतः वे अज्ञानी-अकुशल हैं और अकुशल जनता को बिना विचारे गलत-सलत समझाते हैं ।।२।।

सच्चं असच्चं इति चिंतयंता, असाहु साहुत्ति उदाहरंता ।
जेमे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठा वि भावं विणइंसु णाम ।३।

अनेक विनयवादी सत्य को असत्य या असत्य को सत्य सोचते हुए और असाधु में साधुत्त्व का प्रतिपादन करते हुए, किसी के पूछने पर विनय को ही साधना बताते हैं ।।३।।

टिप्पणी—विनयवादी अर्थात् जिनमें भक्ति का अतिरेक हो गया हो-ऐसे व्यक्ति। यहां तक कि वे भक्ति को मुक्ति से भी बढ़कर मान लेते हैं—साधन को ही साध्य मान लेते हैं। देवता, शासक, यति, जाति, वृद्ध, अधम, माता और पिता में से किसी में अपने इष्ट का आरोपण करके, उनके प्रति मन, वचन, काया और दान अर्थात् सर्वस्व-समर्पण का नाम है विनय। कोई चारों के योग में विनय मानते हैं तो कोई एक में भी। स्त्रियों के लिये पति को ही परमाराध्य बताने वाले भी इसी कोटि में आते हैं और प्राणी मात्र में अपने आराध्य के दर्शन करके, उन्हें नमस्कार करने वाले भी विनयवादी ही हैं:—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च,
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं,
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ।

भागवत ११।२।४१

इस श्लोक का भावार्थ निम्न दो पंक्तियों में आ जाता है—

सिया-राममय सब जग जानी ।
करहु प्रणाम जोरि जुग पानी ॥

—रामचरित मानस

आजकल के एकान्त जन-सेवा के आग्रही व्यक्ति भी इसी श्रेणी में आते हैं ओर राष्ट्र, देश, समाज-सेवा के एकान्त आग्रही भी । इस प्रकार आग्रह-वश वे असत्य को सत्य और सत्य को असत्य मान लेते हैं ।

विनयवादी इष्ट में अमुक अंश में तल्लीन होने पर महान् दुराचारी को भी साधु मान लेते हैं—

'अपि चेत् सुदुराचारो, भजते मामनन्य भाक्
साधुरेव स मन्तव्यः, सम्यग् व्यवसितो हिसः'

—गीता

श्री कृष्ण कहते हैं— हे अर्जुन ! यदि महान् दुराचारी भी मुझे एकाग्रता से भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि वह सम्यग् व्यवसाय वाला हो जाता है

(अर्थात् दुराचार करते हुए भी उसका विचार सम्यग् हो जाता है ?)

इस श्लोक का यह अर्थ कल्पित नहीं है। क्योंकि इसके उदाहरण स्वरूप गणिका, अजामिल आदि के कथानक उनमें प्रसिद्ध है। आजकल इस श्लोक का विद्वान लोग दूसरा अर्थ भी लगाते हैं, पर वह ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय में बाधक ही है।

अणोवसंखा इति ते उदाहू, अट्ठे स ओभासइ अह्म एवं।
लवावसंकी य अणागएहिं, नो किरिय-माहंसु अकिरियवादी ॥
सम्मिस्सभावं च गिरा गहीए, से मुम्मई होइ अणाणुवाई।
इमं दुपक्खं इम-मेगपक्खं, आहंसु छलाययणं च कम्मं ।५।
ते एव-मक्खंति अबुज्झमाणा, विरूव रूवाणि अकिरियवाई।
जे मायइत्ता बहवे मणूसा, भमंति संसार मणोवदग्गं ॥६॥
णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति, ण चंदिमा वड्ढति हायती वा।
सलिला ण संदंति ण वंति वाया, वंझो णियतो कसिणे हु लोए ॥
जहा हि अंधे सह जोतिणा वि, रूवाइं णो पस्सति हीण-णेत्ते।
संतं पि ते एव-मकिरियवाई, किरियं ण पस्संति निरुद्ध-पन्ना८

वे अक्रियावादी सत्य दिखाई देने वाले तत्त्व-ज्ञान को न मानकर (अणोवसंखा), इस प्रकार कहते हैं कि—'आत्मा जैसा अर्थ हमें भासित होता है (पर आत्मा है नहीं) अथवा वह अर्थ (आत्मा मे क्रिया) हमें ऐसे ही भासित होता है (पर आत्मा वस्तुतः सक्रिय है नहीं)' (उन अक्रियावादियों

में से) कई क्षण-सन्तति की कल्पना वाले या कर्म से डरने वाले [लवावसंकी] और भविष्य में होने वाले क्रिया के फल से भयभीत होने वाले कह देते हैं—'क्रिया ही नहीं है ।' [अर्थात 'जो कुछ होता है स्वयमेव होता है, इसमें क्रिया और क्रिया के फल की बात ही कैसी ?' या 'आत्मा कुछ नहीं करता । यह तो माया से क्रिया दिखाई देती है ।']

वे सन्देहास्पद [मिश्र] वाणी बोलते हैं या जिसका निषेध करते हैं, उसी का मण्डन करने लग जाते हैं और अस्पष्ट बोलते हुए वितण्डावादी [अण्=नहीं+अणु=अनुगमन+वाई=वादी का अर्थात वितण्डवादी] बन जाते हैं एवं बोलने लगते हैं—'यह दो पक्ष वाला है या दुष्पक्ष है' 'यह एक पक्ष वाला है या हठाग्रह है' और 'कर्म=क्रिया से छल से' [माया से] विस्तृत है [इस प्रकार कहने लगते हैं—'मैं बोलता हूँ-यह भी छल-भ्रम है तुम बोलते हो-यह भी भ्रम है और मैं तुम्हें पीटता हूँ यह भी भ्रम है ।'] या कर्म छलियों द्वारा निर्मित ठग-मन्दिर है ।'

इस प्रकार वे अक्रियावादी ना समझ होकर, विकृत रूप से वचन बोलते हैं और यों ये बहुत से मनुष्य छल व कपट को अपना कर, अनन्त काल तक संसार में गोते लगाते रहते हैं ।

(कई दूसरे अक्रियावादी कहते हैं) 'सूर्य न उदित होता है, न अस्त होता है और न चन्द्रमा बढ़ता या घटता है ।

न जल प्रवाहित होता है, न वायु वहती है। यह सारा लोक निश्चय ही शून्य (वन्ध्य) है या सूर्य का उदय-अस्त, चन्द्र की हानि-वृद्धि, जलका झरना और हवाका वहना जैसे नियत है वैसे लोक वन्ध्य (क्रिया के फल से रहित) और नियत है।'

जैसे अन्धा या हीन नेत्र वाला दीपक से युक्त होने पर भी वस्तुओं को नहीं देख सकता है, ऐसे ही ये अक्रियावादी, वुद्धि पर परदा पड़ा हुआ होने के कारण, दीपक=सर्व भाव-प्रकाशक सर्वज्ञ के वचनों द्वारा भी क्रिया को नही देखते हैं या क्रिया के होने पर भी, उसे समझते नहीं हैं।

संवच्छरं सुविणं लक्खणं च, निमित्त देहं च उप्पाइयं च।
अट्ठंग-मेयं वहवे अहित्ता, लोगंसि जाणइ अणागयाइं ॥९॥
केई निमित्ता तहिया भवंति,
केसिंचि तं विप्पडिएति णाणं।
ते विज्ज भावं अणहिज्जमाणा,
आहंसु विज्जापरिमोक्ख-मेव।१०।

लोक में ज्योतिष शास्त्र, स्वप्न शास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, शकुन शास्त्र, दैहिक शास्त्र=जिसमें देह की हलचल आदि से भविष्य की वात जानने का वर्णन हो ऐसा शास्त्र और उत्पात शास्त्र=जिसमें प्रकृति की घटनाओं से भविष्यफल जानने का वर्णन हो ऐसा ग्रन्थ, इस प्रकार इस अष्टाग निमित्त का अ-ध्ययन करके, कई मनुष्य भविष्य-फल जान लेते हैं (अर्थात फल किसी क्रिया का ही हो सकता है। यदि जीव कोई कर्म

या क्रिया से रहित हो तो फिर भविष्य-फल की बात ही कैसी ?)

(हाँ यह बात सही है कि) उनके बताये हुए भविष्य में से कई सच होते हैं तो कई झूठ भी हो जाते हैं। पर ऐसा इसलिये होता है कि वे भविष्य वक्ता विद्या का रहस्य अच्छी तरह समझे बिना ही भविष्य का कथन कर देते हैं— जिससे उनकी विद्या निष्फल हो जाती है अथवा कई अज्ञान-वादी विद्या का रहस्य समझे बिना ही कह बैठते हैं—'विद्या ही श्रेष्ट मोक्ष है (और अविद्या ही बन्धन है–संसार है।)'

टिप्पणी –'ते विज्जभावं........मेव' इन दो पदों का कोई कोई ऐसा भी अर्थ करते हैं कि—'उन अक्रियावादी को निमित्तादि शास्त्रों का अध्ययन तो होता नहीं, अतः वे उन्हें व्यर्थ की विद्या कह सकते हैं।' पर युक्ति-संगत अर्थ यही प्रतीत होता है कि—अक्रियावादी ज्ञान का मर्म न समझ कर ज्ञान से ही परिमोक्ष बताते हैं।'

ते एवमक्खंति समिच्चलोगं, तहा तहा समणा माहणा य।
सयं कडं णन्नकडं च दुक्खं, आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं ११

इस प्रकार लोक में [एकान्त बात की] खींचतान देख कर, श्रमण-माहण कहते हैं—'दुःख खुद के कर्मों का फल है, अन्य कृत नहीं [अर्थात जीव की दुःख आदि अवस्थाएँ, जीव की सक्रियता की साक्षी है] इसलिये वे कहते हैं—'और प्रमोक्ष=दुःख का अभाव विद्या और उसके अनुसार आचरण करने पर हो सकता है। (अर्थात दुःख के अभाव की प्राप्ति

में भी क्रिया की अपेक्षा है ।') ॥११॥

ते चक्खु लोगंसिह णायगा उ, मग्गाणुसासंति हितं पयाणं ।
तहा २ सासय-माहु लोए, जंसी पया माणव ! संपगाढा १२

जो प्रजा को ऐसा हितकारी मार्ग बताते हैं वे ही इस लोक में चक्षु के समान हैं और नेता है और वैसे ही [जैसे क्रिया से मोक्ष-प्राप्ति बतलाते हैं वैसे ही कर्म से] लोक को शाश्वत बताते हैं अथवा द्रव्य की अपेक्षा से लोक को शाश्वत कहते हैं और कहते हैं कि—'हे मानव ! उस लोक में प्राणी निवास करते हैं—॥१२॥

जे रक्खसा वा जमलोइया वा, जे वा सुरा गंधव्वा य काया ।
आगास-गामी य पुढो-सिया जे, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ।

जहाँ (लोक में) राक्षस, असुर, देव, गन्धर्व और जो भी शरीरधारी प्राणी हैं—वे चाहे आकाशगामी हो, चाहे धरती पर रहने वाले हो–उन सबको परिभ्रमण करना पडता है ।१३।

जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।
जंसी विसन्ना विसयंगणाहिं, दुहओऽवि लोयं अणुसंचरंति ॥

अत: अपार-दुस्तर जल-प्रवाह के समान कहा जाने वाला यह गहन भव-लोक कठिनता से पार किये जाने वाला समझो, क्योंकि संसार में आसक्त जीव विषय भोग–प्रधान क्रिया से, स्थावर और जंगम-ऐसे दो भेद वाले प्राणी लोक में बारम्बार चक्कर काटते रहते हैं ॥१४॥

न कम्मुणा कम्म खवेन्ति वाला,
अकम्मुणा कम्म खवेन्ति धीरा।
मेधाविणो लोभमयावतीता,
संतोसिणो नो पकरेंति पावं ॥१५॥

इस प्रकार कर्म से कर्म का क्षय, वाल जीव नहीं कर सकते हैं, परन्तु धीर जीव अकर्म से कर्म का क्षय करते हैं। क्योंकि बुद्धिमान आत्मा लोभ और मद-अभिमान से दूर होकर, सन्तोपी वनकर पापों को नहीं करते हैं ॥१५॥

ते तीयउप्पण्णमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं।
णेतारो अन्नेसि अणन्नणेया, बुद्धा हु ते अंतकड़ा भवंति ॥

ऐसा करने वाले या कहने वाले वे पुरुष, लोक के भूत वर्तमान और भविष्य के भावों को, वास्तविक रूप (तथागत=जैसी अवस्था में वे रहते हैं उसी रूप) से जानते हैं अतः उनका कोई भी नेता=मार्ग-प्रेरक या प्रदर्शक नहीं है, परन्तु वे दूसरे मनुष्यों का मार्ग-प्रदर्शन करते हैं। वे ज्ञानी अपने भव चक्र के अन्तकर होते हैं अर्थात भव फेरे को मिटा देते हैं।१६।

ते णेव कुव्वंति न कारवेंति, भूताहिसंकाइ दुगुंछमाणा।
सया जता विप्पणमंति धीरा, विण्णत्ति-धीरा य हवंति एगे ॥

वे ज्ञानी न स्वयं पाप कर्म करते हैं और न दूसरे से कराते हैं। क्योंकि वे प्राणियों को मौत आदि भयों की शंका कराने वाले कर्त्तव्यों को घृण्य-निन्दनीय समझते हैं। इसीलिये वे पुरुप सदा यत्नाशील होकर, आचरण करते हैं। अतः वे धीर

हैं। पर कई अपने को ज्ञान मात्र से धीर समझते हैं ।१७।

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते अत्तओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहती लोगमिणं महंतं, बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ।१८।

परन्तु वे ज्ञानी छोटे-बड़े सभी प्राणियों को या सारे लोक को अपने समान देखते हैं। इस लोक (प्राणियों) को वे महान समझते हैं। अतः तत्त्वज्ञ अप्रमत्तों में या प्रमादी व्यक्तियों में संयम से रहे ॥१८॥

जे आयओ परओ वा वि णच्चा,
अलमप्पणो होंति अलं परेसिं ।
तं जोइभूतं च सयावसेज्जा, जे पाउकुज्जा अणुवीति धम्मं ॥

जो स्वतः=आत्मा से या दूसरे ज्ञानी पुरुष से जानकर और पूरी तरह से चितन्न करके धर्म का प्रकाशन करते हैं वे अपनी तथा दूसरे की रक्षा करने में समर्थ हैं। उस ज्योति-स्वरूप=प्रकाश पुंज के पास रहना चाहिए ॥१९॥

अत्ताण जो जाणति जो य लोगं,
गइं च जो जाणइ णागइं च ।
जो सासयं जाण असासयं च,
जातिं च मरणं च जणोववायं ।२०।

अहो वि सत्ताण विउट्टणं च, जो आसवं जाणति संवरं च ।
दुक्खं च जो जाणति निज्जरं च,
सो भासिउ-मरिहइ किरियवायं ।२१।

जो व्यक्ति अपने आपको जानता है और लोक को

जानता है, जीवों को परिभ्रमण (गति) और स्थिरता=मोक्ष (अगति) को जानता है, जो पुरुष शाश्वत् को जानता हुआ अशाश्वत को जानता है अर्थात नित्य-अनित्यता का सापेक्ष ज्ञान करता है, और जन्म-मरण को एवं उपपात (देव-नरक में होनेवाले जन्म) को जानता है ॥ २० ॥

जो अधो लोक के नरकादि के जीवों की पीड़ा को जानता है, जो आत्मा में कर्म के प्रवेश करने के रास्तों (आश्रव) को और उनके प्रवेश को रोकने के उपायों (संवर) को जानता है और जो कर्म के फल [दुःखादि] को तथा कर्म का नाश करने का उपाय (निर्जरा) को जानते हैं वे ही क्रियावाद के कथन करने में समर्थ हो सकते हैं ॥ २२ ॥

सद्देसु रूवेसु असज्जमाणे, गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे ।
णो जीवितं णो मरणाहिकंखी,
आयाणगुत्ते वलया विमुक्के ॥२१॥ त्तिबेमि ॥

वे (उत्तम चारित्री विशाल व्यक्तित्त्वाले पुरुष) शव्द और रूपमें अनासक्त रहते हैं, गंध और रस में राग-- द्वेष से मुक्त रहते हैं, जीने-मरने की इच्छा नहीं करते हैं और आदान-मन, वचन और काया की ग्रहण-शक्ति की रक्षा करते हुए, संसार-चक्रसे मुक्त हो जाते हैं ॥ २२ ॥

मैं ऐसा कहता हूँ ।

बारहवां अध्ययन समाप्त

व्यक्ति के तुल्य न होकर, शान्त रहता है और मोक्ष के लिये उपाय-प्रयत्न करने वाला वह लज्जाशील व्यक्ति, एकान्त दृष्टि =आत्म-दृष्टि से युक्त और निष्कपट व्यवहार करता हुआ रहता है ॥६॥

से पेसले सुहुमे पुरिसजाए, जच्चन्निए चेव सुउज्जुयारे।
वहुं पि अणुसासिए जे तहच्चा, समे हु से होइ अझञ्झ-पत्ते॥

जो मृदु और अल्प भाषी या हित-मित भाषी होकर पुरुषार्थ करने वाला है वह जातिवान और सरल आचरण वाला या संयमी है। वहुधा जो शिक्षा दिये जाने पर, अपनी गलती सुधार लेते हैं वह शान्त और समभावी है ॥७॥

जे यावी अप्पं वसुमंति मत्ता, संखाय-वायं अपरिक्ख कुज्जा।
तवेण वाहं सहिउत्ति मत्ता, अण्णं जणं पस्सति बिंब भूयं॥

पर कई व्यक्ति अपने को गुणों का धनी मानकर अपने गौरव की कसौटी किये बिना, संख्यान-वाद=वढ़ा-चढ़ाकर अपनी प्रशंसा करते हैं या 'मैं तपस्वी हूँ'—यह मानकर, अन्य जन को बिम्बभूत=स्वांगधारी अथवा परछाईं के समान तुच्छ समझते हैं ॥८॥

एगंत-कूडेण उ से पलेइ, ण विज्जती मोण-पयंसि गोत्ते।
जे माणणट्ठेण विउकसेज्जा, वसुमन्नतरेण अवुज्झमाणे।९।

इस प्रकार वे पुरुष एकान्त कूट=बन्धन, विष या मोह से संसार में लीन हो जाते हैं—डूब जाते हैं। वे मौनपद= आत्म-संयम या सर्वज्ञ-कथित मार्ग मे स्थिर नहीं रह सकते

हैं। जो मान-पूजा के प्रयोजन से उत्थान करते हैं उन्नति के प्रयत्न करते हैं, वे दूसरे अन्य गुणों से सम्पन्न होते हुए (भी) ना समझ है और मुनि-मार्ग से दूर हैं ॥९॥

जे माहणे खत्तिय-जायए वा, तहुग्ग-पुत्ते तह लेच्छई वा।
जे पव्वईए परदत्त-भोई, गोत्ते ण जे थब्भति माण-बद्धे ॥
न तस्स जाई व कुलं व ताणं, णण्णत्थ विज्जा-चरणं सुचिण्णं
णिक्खम्म से सेवइऽगारिकम्मं,
न से पारए होइ विमोयणाए ॥११॥

ब्राह्मण या क्षत्रिय, उग्रपुत्र या लिच्छवी, दीक्षित होकर, दूसरे का दिया हुआ भोजन करते हुए, मान में बन्धकर, गोत्र का अभिमान न करे।

क्योंकि जाति या कुल, जातिवान और कुलवान की रक्षा नहीं कर सकते हैं, यदि उसने समझ और आचरण का सच्चाई से भली भाँति सेवन न किया हो। अतः जो दीक्षित होकर, (जाति-कुलादि का अभिमान करते हैं) वे गृहस्थ-आचार का सेवन करते हैं। ऐसे व्यक्ति कर्मों के बन्धनों को काटने में कुशल नहीं हो पाते ॥१०-११॥

णिक्किंचणे भिक्खु सुलूह जीवी, जे गारवं होइ सलोग-गामी।
आजीव-मेयं तु अबुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥

जो भिक्षु अकिञ्चन हैं—रुखा-सूखा आहार करके जीते हैं; परन्तु वे-श्लाघा=प्रशंसा पाने की इच्छा वाले होकर; गौरवशाली हो जाते हैं अर्थात प्रशंसा की ओर दौड़ते हुए,

सयं समेच्चा अदुवाऽवि सोच्चा, भासेज्ज धम्मं हियय पयाणं
जे गरहिया सणियाण-प्पओगा,
ण ताणि सेवंति सुधीर-धम्मा ॥ १९ ॥

भिक्षु स्वयं चिन्तन से अथवा सुनकर, प्राणियों के हितकारी धर्म को कहे। उत्तम धैर्य-धर्म वाले पुरुष निन्दित फल की इच्छा से युक्त प्रयोगों का सेवन नहीं करते हैं ॥१९॥

टिप्पणी— निन्दित और फल की इच्छा से युक्त प्रयोगों' का आशय यह है—व्याख्यान को आजीविका का साधन बनाना, यश-आदि की कामना से व्याख्यान करना और निन्दित-प्रयोग अर्थात् मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और सावद्य-प्रवृत्ति का उपदेश।

केसिंचि तक्काइ अबुज्झ भावं,
खुदंपि गच्छेज्ज असद्दहाणे।
आउस्स कालाइयारं वघाए, लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ।।२०॥

यदि किसी के भावों को अनुमान से जाने बिना, उसको उपदेश दिया जाता है, तो वह उन शब्दों पर विश्वास न करके (साधु के व्यक्तित्व के प्रति) अविश्वासी होकर, क्षुद्रता पर उतर आता है और उपदेशक के आयुष्य को समाप्त कर देता है या जीवन मे कई व्याघात=विघ्न उपस्थित कर देता है। अतः (किसी को उपदेश करने के पहले) आशयों को अनुमान से जानकर, बाद मे दूसरे पर अर्थ=धर्म के उपदेशों को प्रकाशित करे ॥२०॥

कम्मं च छंदं च विगिंच धीरे, विणइज्ज उ सव्वओ पावभावं
रूवेहिं लुप्पंति भयावहेहिं, विज्जं गहाया तस-थावरेहिं।२१।

साधु दूसरे के कर्म और अभिप्राय को जानकर, धीर पुरुष उसके पाप भावों को, उपदेश द्वारा सर्वथा दूर करने का प्रयत्न करे, क्योंकि भयावह रूप से (प्राणी विषयों में) आसक्त है। अतः विद्वान धर्म-देशनामें कुशल होकर, त्रस-स्थावर जीवों का हित हो, ऐसा धर्म कहे ॥२१॥

न पूयणं चेव सिलोय-कामी,
पिय-मप्पियं कस्सइ णो करेज्जा।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते, अणाउले या अकसाइ भिक्खू।२२।

साधु को न पूजा-प्रशंसा की इच्छा करना चाहिये और न किसी का प्रिय और अप्रिय करना चाहिये। भिक्षु सभी निरर्थक कर्त्तव्यों को छोड़कर, अनाकुल=सर्वज्ञ कथित मार्गका अनुसरण करने में दुःखी न होने वाला बनकर, अकषायी=क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्त बने ॥२२॥

आहत्तहीय समुपेहमाणे, सव्वेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं।
णो जीवियं णो मरणाहिकंखी, परिवएज्जा वलया-विमुक्के२३
॥ त्तिवेमि ॥

साधु [कषाय-मुक्त बनने के लिये] वस्तुस्थिति-सचाई को देखता हुआ, सभी प्राणियों से, दण्ड=मन, वचन और काया की पाप-प्रवृत्ति को, दूर हटाकर, जीने-मरने की अभिलाषा को छोड़कर और वलय=चक्रम्बाजी-धूर्तता छोड़कर

वणंसि मूढस्स जहा अमूढा, मग्गाणुसासंति हित पयायं ।
तेणेव मज्झं इणमेव सेयं, जं मे वुहासमणुसासयंति ॥१०॥

'जैसे मार्ग जानने वाला पुरुष, भूले हुए राहगीर को, शब्दों से उसे ठीक मार्ग बताता है या जिस मार्ग से जाने में प्राणियों का हित-कल्याण होता है, वह मार्ग बताता है, वैसे ही यह मेरे श्रेय (कल्याण या सौभाग्य) की बात है, जो ये ज्ञानी जानकर मुझे अच्छी शिक्षा देते हैं।' ॥१०॥

अह तेण मूढेण अमूढगस्स, कायव्व पूया सविसेस-जुत्ता ।
एओवमं तत्थ उदाहु वीरे, अणुगम्म अत्थं उवणेइ सम्मं ॥

जिस प्रकार भूले हुए राहगीर को, उस पथ-प्रदर्शक की विशेष रूप से पूजा करनी चाहिये, उसी प्रकार साधु गुरु से तत्त्व के अर्थों को जानकर, उनका सम्यक् आदर सत्कार करे—यह महावीर प्रभु ने कहा है ॥११॥

णेता जहा अंधकारंसि राओ, मग्गं ण जाणाति अपस्समाणे ।
से सूरिअस्स अब्भुग्गमेणं, मग्गं वियाणाइ पगासियंसि।१२।
एवं तु सेहे वि अपुट्ठ-धम्मे, धम्मं न जाणाइ अवुज्झमाणे ।
से कोविए जिणवयणेण पच्छा, सूरोदए पासति चक्खुणेव ॥

जैसे रात्रि के अन्धकार में नेत्र, दिखाई नहीं देने के कारण रास्ता नहीं जान सकते हैं, परन्तु सूर्य का उदय हो जाने से, सभी वस्तुओं के [और साथ ही नेत्र के भी] प्रकाशित हो जाने पर, वे मार्ग जान लेते हैं—

वैसे ही धर्म मे अकुशल शिष्य भी अज्ञान के कारण

धर्म को नहीं जानते हैं, परन्तु बाद में जिन वचनों से चतुर बन जाने पर, वे सूर्य से प्रकाशमान बने हुए नेत्रों के समान, धर्म की वास्तविकताको जान लेते हैं ॥१२॥१३॥

उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावरा जे य पाणा।
सया जए तेसु परिवएज्जा, मणप्पओसं अविकंपमाणे ॥

ऊँची, नीची और तिरछी दिशा में स्थित त्रसस्थावर जितने भी प्राणी हैं, उनमें साधक को सदा यत्ना से रहना चाहिये और मन से उनके लिये अमंगल न सोचते हुए, अचञ्चल होकर, संयम पालन करना चाहिये ॥१४॥

कालेण पुच्छे समियं पयासु, आइक्खमाणे दवियस्स वित्तं।
सं सोयकारी य पुढो पवेसे, संखा इमं केवलियं समाहिं ॥

शिष्य; प्राणियों में समितियों युक्त स्थित गुरु से, योग्य समय में अपनी शंकाओं का समाधान करे। भव्य की शील सम्पत्ति को कहने वाले गुरु का कथन कान लगाकर सुने और एकाग्रता से उनमें यह सोचकर-प्रवेश करे कि- 'यह सर्वज्ञ का कहा हुआ सन्मार्ग है' या 'यह सर्वज्ञ बनने का मार्ग है' ।१५।

अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण तायी, एएसु या संति निरोह-माहु।
ते एव- मक्खंति तिलोगदंसी, न भुज्जमेयंति पमाय-संगं ॥

साधु उस सन्मार्ग में स्थिर रहकर, मन, वचन और काया से स्व-पर की रक्षा करे। ऐसा करने से ही शांति होती है और कर्मों का क्षय होता है अथवा ऐसा करने में अशान्ति का निरोध होना कहा गया है और वे त्रिलोकदर्शी यह प्रति-

जीवितं पिट्ठओ किच्चा, अंतं पावंति कम्मुणं ।
कम्मुणा संमुही भूता, जे मग्ग-मणुसासई ॥१०॥

जीवन को पीठ के पीछे करके अर्थात् वे जीवन की फिक्र छोड़कर, कर्म का अन्त पा लेते हैं। जो सद् कर्त्तव्य करने में, जीने मरने की फिक्र नहीं करते हैं वे अपने कर्म से मोक्ष के सन्मुख हैं। वे मोक्ष मार्ग की शिक्षा देते हैं ॥१०॥

अणुसासणं पुढो पाणी, वसुमं पूयणासु ते ।
अणासए जए दंते, दढे आरण-मेहुणे ॥११॥

प्राणी उस शिक्षा को भिन्न-भिन्न रूप से समझते हैं। (और वे श्रद्धालु होकर संयमी की पूजा करते हैं) अतः वह संयमी, पूजा में रुचि न रखे, यत्ना से रह आत्म-दमन करे और मैथुन रहित रहे। ऐसा दृढ पुरुष मोक्ष के सन्मुख है ११

णीवारे व ण लीएज्जा, छिन्नसोए अणाविले ।
अणाइले सया दंते, संधिं पत्ते अणेलिसं ॥१२॥

संयमी पुरुष, भोगों को शिकारी के डाले हुए दानों के समान जानकर, उनमें आशक्त न हो। वे संसार प्रवाह से मुक्त, राग-द्वेष से रहित निर्मल, विषय-भावना से रहित पवित्र और सदा आत्म-दमन करने वाले पुरुष, अनुपम भाव सन्धि को प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

अणेलिसस्स खेयन्ने, ण विरुज्झिज्ज कणइ ।
मणसा-वयसा चेव, कायसा चेव चक्खुमं ॥१३॥

अनुपम भाव या शासन के क्षेत्र=पात्र का ज्ञाता पुरुष

मन–वचन और काया से किसी के साथ द्वेष न करे। वह साधु परमार्थ दर्शी है ॥ १३ ॥

से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए य अंतए।
अंतेण खुरो वहती, चक्कं अंतेण लोट्टती ॥१४॥
अंताणि धीरा सेवंति, तेण अन्तकरा इह।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्म–माराहिउं नरा ॥१५॥

और जिन्होंने इच्छाओं का अन्त कर दिया है, वे ही मनुष्यों के नेत्र हैं। तीखे उस्तरे का अन्तिम हिस्सा चलता है और रथका पहिया भी अन्तिम भाग में [धुरी के किनारे पर] चलता है। १४ ॥

इसलिये धीर पुरुष [आत्मा के विभावों के या मुक्ति मार्ग के] अन्तों=अभावों या पूर्णता का सेवन करते हैं (इसीलिये वे स्व-परके कर्म काटने में या सुख का संयोग कराने में समर्थ हैं।) सचमुच में यहाँ मनुष्य लोक में, धर्म की आराधना के लिये नर [नारी] का तन [ही योग्य है] ॥ १५ ॥

णिट्ठियट्ठा व देवा वा, उत्तरीए इयं सुय।
सुयं च मेयमेगेसिं, अमणुस्सेसु णो तहा ॥१६॥

नर तन से ही कृतकृत्य बन सकते हैं और उत्कृष्ट देव बन सकते हैं—ऐसा लोकोत्तर प्रवचन मे सुना है और यह भी सुना है कि मनुष्य के सिवाय दूसरे प्राणियों में ऐसी बात नहीं है ॥ १६ ॥

अंतं करंति दुक्खाणं, इहमेगेसि-माहियं ।
आघायं पुण एगेसिं, दुल्लभेऽयं समुस्सए ॥१७॥

यहाँ मनुष्य ही अकेले दुःखों का अन्त कर सकते हैं यह कइयों ने कहा है और कई यह भी कहते हैं कि नर तन पाना दुर्लभ है ॥ १७ ॥

इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा ।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे ॥१८॥

और इस नाशवान नर के चोले को गँवा देने पर, दूसरी जगह सत्य बोधि की प्राप्ति दुर्लभ है, क्योंकि अन्यत्र ऐसी चित्तवृत्ति पाना ही दुर्लभ है जो धर्म की व्याख्या समझ सके ॥ १८ ॥

जे धम्मं सुद्ध मक्खंति, पडिपुन्न-मणेलिसं ।
अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्म कहा कओ ॥१९॥

जो (इस मनुष्य लोक में आकर) परिपूर्ण, अनुपम और शुद्ध धर्म को समझते व समझाते हैं, वे उस श्रेष्ठ स्थान (पूर्ण आत्म-स्थिरता) को प्राप्त करते हैं । अतः उसके जन्म की बात ही कैसी ॥ १९ ॥

कओ कयाइ मेधावी, उप्पज्जंति तहागया ।
तहागया अप्पडिन्ना, चक्खू लोगस्सणुत्तरा ॥२०॥

तथागत=उस अनुपम स्थिति को प्राप्त करने वाले ज्ञानी पुरुष कभी भी कैसे उत्पन्न हो सकते है ? वे अप्रतिज्ञ=आ-

कांक्षा से रहित, तथागत=जीवन्मुक्त पुरुष लोकके सर्व श्रेष्ठ नेत्र हैं ॥ २० ॥

अणुत्तरे य ठाणे से, कासवेण पवेदिते ।
जं किच्चा निव्वुडा एगं, निट्ठं पावंति पंडिया ॥२१॥

इस उत्तम स्थिति का काश्यप महावीर प्रभुने प्रतिपादन किया है, जिसको प्राप्त करके कई बुद्धिमान् संयमी संसार के अन्त को या निश्चलता को पा लेते हैं ॥ २१ ॥

पंडिए वीरियं लद्धुं, निग्घायाय ववत्तगं ।
धुणे पुव्वकडं कम्मं, णवं वा वि ण कुव्वई ॥ २२ ॥

पण्डित व्यक्ति कर्म के नाश करने के लिये योग्य शक्ति को पाकर, पहले किये हुए कर्मों को नष्ट कर दे और नये कर्म न करे ॥ २२ ॥

ण कुव्वई महावीरे, अणुपुव्वकडं रयं ।
रयसा संमुहीभूता, कम्मं हेच्चाण जं मयं ॥२३॥

महावीर पुरुष अनुक्रम से (मिथ्यात्त्व, अव्रत, प्रमाद कषाय और योग से) किये जानेवाले कर्म को नहीं करते हैं। प्राणी पहले किये हुए कर्मों के द्वारा नये कर्म करते हैं। (अर्थात साधु नये होने वाले कर्मों को रोक देते हैं और पुराने कर्म को नष्ट करने के लिये तप करते हैं) साधु मोक्ष के सन्मुख होकर, आठ प्रकार को नष्ट करते हैं ॥ २३ ॥

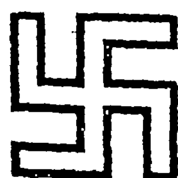
जं मयं सव्वसाहूणं, तं मयं सल्लगत्तणं ।
साहइत्ताण तं तिन्ना, देवा वा अभविंसु ते ॥२४॥

और वे पुरुष सभी साधकों के इच्छनीय पीड़ा-नाशक उस अवस्था—संयम को साधकर, संसार-सागर से पार होजाते हैं या वैमानिक देव होते हैं ॥ २४ ॥

अभविंसु पुरा धीरा, आगामिस्सा विसुव्वया ।
दुन्निबोहस्स मग्गस्स, अंतं पाउकरा तिन्ने ॥२५॥
। त्तिबेमि ।

दुर्बोध मोक्षमार्ग के अन्त (रहस्य) को प्रगट करने वाले सुव्रती, धीर और मुक्त पुरुष पहले हो चुके हैं और आगामी काल में भी होंगें (अर्थात सत्य का पूर्णत: साक्षात्कार करने वाले व्यक्ति यद्यपि कम होते हैं, फिर भी वे हर काल में होते हैं, उनका अभाव न पहले हुआ है और न भविष्य में अभाव होगा) ॥ २५ । ऐसा मैं कहता हूं ।

पन्द्रहवां अध्ययन समाप्त



सोलहवाँ अध्ययन

[गाथा=उपसंहार]

अहाह भगवं—एवं से दंते दविए वोसट्ठकाए त्ति वच्चे माहणेत्ति वा, समणेत्ति वा, भिक्खुत्ति वा, णिग्गं-थेत्ति वा।

पडिआह—भन्ते! कहं नु दंते दविए वोसट्ठकाए त्ति वच्चे माहणेत्ति वा, समणेत्ति वा, भिक्खुत्ति वा, णिग्गंथेत्ति वा। तं नो बूहि महामुणी।

इति विरए सव्व-पाव-कम्मेहिं पिज्जदोस-कलह० पेसुन्न० परपरि वाय० अरति-रति० मायामोस० मिच्छा-दंसण-सल्ल-विरए सहिए समिए सया जए णो कुज्झे णो माणी माहणेत्ति वच्चे ॥ १ ॥

भगवान् बोले—'पहले कहे हुए गुणों से युक्त, आत्म-दमन करने वाले, भव्य और देह के अभिमान को त्यागनेवाले पुरुष को ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।'

शिष्यने पूछा—'हे पूज्य! दान्त, भव्य और देहा-भिमान-त्यागी पुरुष को ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ क्यों कहना चाहिये? हे महामुनि! हमें यह कहिए।'

भगवान्—'साधो! वह संयमी सब पाप कर्म को त्याग देता है; वह प्रीति-द्वेष, कलह, किसी को झूठा दोष देना,

चुगली करना, निन्दा करना, हर्ष-विषाद करना, विश्वासघात करना और मिथ्या मान्यता के अन्तरशल्य को छोड़ देता है और वह परमार्थ से युक्त, सम्यग् प्रवृत्तिवाला, जागृत, क्रोध रहित और मान-रहित होता है। इसलिये वह श्रमण ब्राह्मण कहे जाने योग्य है।'

एत्थ वि समणे अणिस्सिए, अणियाणे, आयाणं च अतिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोहं च पिज्जं च दोसं च इच्चेव जओ, जओ आदाणं अप्पणो पद्दोस-हेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाइया सिआ, दन्ते दविए वोसट्ठकाए समणे त्ति वच्चे ॥ २ ॥

'वे संयमी पुरुष सहनशील होते हैं, अनासक्त और इच्छा रहित होते हैं, वे विना दी हुई वस्तु को लेना, घात करना, झूठ बोलना, मैथुन-सेवन करना व परिग्रह रखना, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष करना—इन सबका सावधान होकर त्याग करते हैं और जो भी आत्मा के लिये द्वेष के कारण हैं ऐसे सभी प्राणातिपात आदि कर्म से पूर्व श्रेय के लिये दूर हट जाते हैं, वे दान्त, भव्य और देहाभि-मान-त्यागी व्यक्ति श्रमण कहे जाने योग्य हैं।'

एत्थ त्रि भिक्खू अणुन्नए, विणीए, नामए, दंते दविए, वोसट्ठकाए, संविधुणीय विरूव रुवे परीसहोवसग्गे, अज्झप्प-जोग-सुद्धादाणे, उवट्ठिए. ठिअप्पा, संखाए परदत्त

भोई भिक्खु त्ति वच्चे ॥ ३ ॥

'वह भिक्षु इसलीए कहे जाते हैं कि वह अभिमान रहित होते हैं; नम्र और गुरुजन की आज्ञा का पालन करते हैं, इन्द्रियों का दमन करते हैं, भव्य-मुक्तिगामी होते हैं; देह में बनी हुई 'मैं' पनकी बुद्धि को छोड़ देते हैं; अनेक भयंकर विघ्नों को सहते हुए आत्म–लीनता से योगों की शुद्ध ग्राहक शक्तिवाले बन जाते हैं; वे सदा उद्यमशील होकर चित्त को स्थिर बना लेते हैं और मर्यादा युक्त व दूसरे के दिये हुए भोजन से निर्वाह करते हैं।'

एत्थ वि णिग्गंथे एगे, एगविऊ, बुद्धे, छिन्नसोए, सुसंजते, सुसमिते, सुसामाइए, आयवाय-पत्ते, विऊ दुहओ वि सोय-पलिछिन्ने, णो पूया-सकार–लाभट्ठी, धम्मट्ठी, धम्मवीऊ, णियाग-पडिवन्ने, समियं चरे, दन्ते दविए वोसट्ठकाए णिग्गंथे त्ति वच्चे ॥ ४ ॥

स एवमेव जाणह जमहं भयंतारो ॥ त्तिबेमि ॥

'वह निर्ग्रन्थ इसलिए कहे जाते हैं कि वह अकेले होते हैं; अकेले को=आत्मा को जानते हैं; वे जागृत पाप कर्म के प्रवाह को रोक देने वाले, उत्तम संयमी सम्यक् प्रवृत्ति वाले, समभाव से युक्त, आत्मवाद (आत्मा के सही स्वरूप को निरूपण करने वाले सिद्धान्त) को पा लेनेवाले, विद्वान्, इन्द्रियों की विषयों की ओर प्रवृत्ति और अनुकूल–प्रतिकूल विषयों में राग-द्वेष—इन दोनों प्रकार के प्रवाह रोकने वाले,

पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे पउम-वर-पोंडरिया वुड्या अणु-पुवुट्ठिया ऊसिया रुइला जाव पडिरूवा। सव्वावंति च णं तीसे णं पुक्खरिणीए बहु-मज्झ-देस-भाए एगं महं पउम वर-पोंडरीए वुइए अणुपुव्वुट्ठिए जाव पडिरूवे।

[सुधर्मा स्वमीः] आयुष्यमान्! मैंने भगवान् महावीर से इस सूत्र के पुण्डरीक नामक अध्ययन का यह सार सुना था।

समझलो कि एक पुष्करिणी (छोटा तालाब) है उसमें बहुत जल तथा कीचड़, बहुत-से कमल हैं। वह शोभायमान्, मनोहर और दर्शनीय है अभिरूप प्रतिरूप है। उसमें इधर–उधर बहुत-से सुन्दर कमल खिले हुए हैं, वे जल से ऊपर उठे हुए, दीप्ति से युक्त, सुन्दर रंगवाले, श्रेष्ठ गंधवाले, मधुर रसवाले, कोमल स्पर्शवाले, मनोहर, दर्शनीय और सुन्दर हैं। उस पुष्करिणी के ठीक मध्य भागमें, एक बहुत बड़ा, उत्तम सफेद कमल है, वह जलसे ऊपर उठा हुआ, कान्ति से युक्त, रूप-गंध-रस और स्पर्श में उत्तम, मनोहर, दर्शनीय और सुन्दर है। उस पुष्करिणी में वह बड़ा सफेद कमल, इधर-उधर उगे हुए, उपर्युक्त गुणों से युक्त बहुत-से कमल के बीचोबीच है।

अह पुरिसे पुरित्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति. तं महं एगं पउम-वर-पोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं ऊसियं जाव पडिरूवं। तए णं से पुरिसे एवं वयासी—

'अहमंसि पुरिसे खेयन्ने-कुसले-पंडिते-वियत्ते-मेहावी-

अवाले-मग्गत्थे-मग्गविऊ-मग्गस्स गति-परक्कमण्णू, अहमेयं पउम-वर पोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु'—

इति वुया से पुरिसे अभिक्कमेति तं पुक्खरिणीं, जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए-महंते सेए, पहीणे तीरं अपत्ते पउमवर-पोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरिणीए-सेयंसि निसण्णे पढमे पुरिसजाए ॥२॥

अव एक पुरुष पूर्व दिशा की ओर से, उस पुष्करिणी पर आकर, उसके किनारे पर खड़ा रहकर, उस श्रेष्ठ, उन्नत और सुन्दर वड़े कमल को देखता है। वह पुरुष उसे देखकर यों वोला—

'मैं क्षेत्रज्ञ=पात्र-अपात्रको जाननेवाला, कुशल, पण्डित, विवेकी, बुद्धिमान्, प्रौढ़ (अनुभवी,) मार्ग में स्थित, मार्ग से ठीक तरह परिचित और मार्ग में चलने के पराक्रम=कौशल का ज्ञाता हूँ। इसलिये मैं इस श्रेष्ठ सफेद कमल को अभी तोड़ लेता हूँ, क्योंकि मैं वहां जाकर, ला सकता हूँ।'

वह यह कहकर उस पुष्करिणी में प्रवेश करता है, ज्यों-ज्यों वह वढ़ता है त्यों-त्यों पानी और कीचड़ की गहराई-अधिकता वढ़ती जाती है। वह किनारे से दूर चला गया; परंतु उस सफेद कमल को नहीं पा सका और न वह इस ओर आने में समर्थ रहा, न उस ओर जाने में। इस प्रकार वह पहला

पुव्वुद्दिट्ठं जाव पडिरूवं; ते तत्थ दोण्णि पुरिस जाए पासति पहीणे तीरं, अपत्ते पउमवर-पोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, जाव सेयंसि णिसन्ने । तए णं से पुरिसे एवं वयासी —

"अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना–अकुसला–अपंडिया–अवियत्ता–अमेहावी बाला--णो मग्गत्था--णो मग्गविऊ-णो मग्गस्स गति–परक्कमण्णू ; जं णं एते पुरिसा एवं मन्ने–अम्हे एतं पउम–वर–पोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामो नो य खलु एयं पउम–वर–पोंडरीयं एवं उन्निखेयव्वं, जहा णं एए पुरिसा मन्ने । अहमंसि पुरिसे खेयन्ने–कुसले-पंडिए वियत्ते--मेहावी-अबाले–मग्गत्थे–मग्गविऊ–मग्गस्स गति परक्कमण्णू, अहमेयं पउम–वर–पोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु ।"

इति वुच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं । जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए महन्ते सेए, जाव अंतरा पोक्खरिणीए सेयंसि णिसन्ने, तच्चे पुरिस जाए ॥ ४ ॥

अब तीसरे पुरुष के विषय में कहते हैं । तीसरा पुरुष पश्चिम दिशा की ओर से, उस पुष्करिणी पर आकर, किनारे पर खड़ा रहकर, पुष्करिणी मे श्रेष्ठ कमल और उसे प्राप्त करने के लिये जाने वाले, कीचड़ में फँसे हुए दो व्यक्तियों को

देखता है।

(शेष सूत्र का अर्थ तीसरे सूत्र के समान।)

अहवारे चउत्थे पुरिसजाए। अह पुरिसे उत्तराओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति, तं महं एगं पउमवर-पोंडरीयं अणुपुव्वुट्ठियं जाव पडिरूवं; ते तत्थ तिन्नि पुरिसजाए पासति पहीणे तीरं अपत्ते जाव सेयंसि णिसन्ने। तए णं से पुरिसे एवं वयासी--

"अहो णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मग्गस्स गति-परिक्कमण्णू, जण्णं एते पुरिसा एवं मन्ने अम्हे एयं पउम-वर-पोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो णो य खलु एयं पउम वर-पोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं, जहा णं एते पुरिसे मन्ने। अहमंसि पुरिसे खेयन्ने जाव मग्गस्स गति-परक्कमण्णू; अहमेयं पउम-वर-पोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु'—

इति वुच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं। जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए जाव निसण्णे, चउत्थे पुरिसजाए॥ ५॥

चौथा पुरुष उत्तर दिशा की ओर से पुष्करिणी पर आकर, किनारे पर खड़ा रहकर, उस श्रेष्ठ कमल को और उसे लेने जाकर कीचड़ में फंसे हुए तीन पुरुषों को देखता है॥५॥

(शेष सूत्र का अर्थ तीसरे सूत्र के समान)

नत्थि केइ पुरिसे अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो—अयमाउसो ! आया इयं सरीरं । से जहानामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिनिव्वट्टित्ता णं उव-दंसेज्जा—अयमाउसो ! मुंजे इयं इसियं, एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो—अयमाउसो ! अयं आया इयं सरीरं । से जहानामए केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठि अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! मंसे अयं अट्ठी; एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया इयं सरीरं । से जहानामए केइ पुरिसे करयलाओ आमलकं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! करयले अयं आमलए; एवमेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो—अयमाउसो ! आया इयं सरीरं। से जहानामए केइ पुरिसे दहिओ नवणीयं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! नवणीयं अयं तु दही; एवमेव नत्थि केइ पुरिसे जाव सरीरं । से जहानामए केइ पुरिसे तिलेहिंतो तेल्लं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! तेल्लं अयं पिण्णाए; एव मेव जाव सरिरं । से जहा नामए केइ पुरिसे इक्खूतो खोयरसं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! खोयरसे अयं छोए, एवमेव जाव सरिरं । से जहानामए केइ पुरिसे अरणीओ अग्गिं अभिनिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! अरणी अयं अग्गी; एवमेव जाव सरिरं । एवं असंते असंविज्जमाणे। जेसिं तं सुयक्खायं भवइ, तंजहा—अन्नो जीवो अन्नं सरिरं; तम्हा

ते मिच्छा ।

से हंता तं हणह-खणह-छणह-उहह-पयह-आलुंपह-विलुंपह-सहसक्कारेह-विपरामुसह, एतावता जीवे नत्थि परलोए। ते नो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा-किरियाइ वा अकिरिया इ वा सुक्कडे इ वा दुक्कडे इ वा कल्लाणे इ वा पावए इ वा साहु इ वा असाहु इ वा सिद्धि इ वा असिद्धि इ वा निरए इ वा अणिरए इ वा । एवं ते विरूव-रूवेहिं कम्म-समारंभेहिं विरूव-रूवाइं काम-भोगाइं समारभंति भोयणाए ।

एवं एगे पागब्भिया निक्खम्म मामगं धम्मं पन्नवेंति । तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा साहु सुयक्खाए समणे त्ति वा माहणे त्ति वा कामं खलु आउसो! तुमं पूययामि, तं जहा-असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा । तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु, तत्थेगे पूयणाए निकाइंसु ।

पुव्वमेव तेसिं णायं भवइ-समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू पर-दत्त-भोइणो भिक्खुणो पावं कम्मं णो करिस्सामो । समुट्ठाए ते अप्पणा अप्पडिविरया भवंति । सयमाइयंति अन्ने वि आइयावेंति अन्नं वि आयतंतं समणुजाणंति । एवमेव ते इत्थि-काम-भोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा राग-दोस-वसट्टा; ते नो अप्पाणं समुच्छेदेंति, नो परं समुच्छेदेंति, ते नो

उस राजा की परिषद् (सभा) होती है। उग्र और उग्रपुत्र, भोगक्षत्रिय और भोगपुत्र, इक्ष्वाकु क्षत्रिय और उनके पुत्र, ज्ञात और ज्ञातपुत्र, कौरववंशी और उनके पुत्र, भट्ट और भट्टपुत्र, ब्राह्मण और ब्राह्मपुत्र, लिच्छवी और लिच्छवीपुत्र, प्रशास्ता (अनुशासक=कोटवाल) और उसके पुत्र तथा सेनापति और सेनापति के पुत्र—ये उस परिषद् के सभासद् होते हैं।

श्रमण-ब्राह्मण उनमें से किसी एक को श्रद्धालु बनाने की इच्छा से उनके पास जाते हैं। वहाँ वे किसी धर्म का प्रतिपादन करते हैं; [वे कहते हैं—] हम इस धर्म से (जगत का रहस्य) अच्छी तरह से समझा सकेंगे। उस धर्म को सभी भयों से रक्षा करने वाला समझिए, जिसे कि मैं शास्त्रानुसार बुद्धि-कौशल से कहता हूँ। वह धर्म यह है—पगतली से लगाकर ऊँचे, सिरके बालके मूल से लगाकर नीचे और अगल-बगल में चमड़ी के सिरे तक जीवित शरीर ही सम्पूर्ण आत्मअवस्था है। इस शरीर के जीवित रहने पर वह आत्म-अवस्था रहती है, पर उसके मर जाने पर वह नहीं रहती है अर्थात शरीर के स्थित रहने पर वह अवस्था रहती है, पर शरीर के नष्ट होजाने पर वह नहीं रहती है इसलिए शरीर के साथ ही जीवन का अंत हो जाता है। फिर उसे दूसरे जलाने के लिये ले जाते हैं। अग्नि में शरीर जल जाता है और भूरे रंग की हड्डियाँ शेष रहती है। उसकी सीढ़ी सहित उसे उठाने

वाले पुरुष — ये पाँच वस्तुएँ गाँव की ओर लौटती है। इस प्रकार उस नष्ट हुए व्यक्तित्व का फिर कभी स्पष्ट संवेदन नहीं होता है। ऐसा होने पर भी जो जीव और शरीर को भिन्न मानते हैं उन्हें पूछना चाहिए कि—आत्मा बड़ी है या छोटी, वर्तुल है या गोल; त्रिकोण, चतुष्कोण, चौड़ी, षट्कोण या अष्टकोण है, काली, नीली, लाल, पीली या सफेद है; सुगंधित है या दुर्गंधित; तिक्त, कड़ुई, कषाय, अम्ल या मधुर है, खुरदरी है या कोमल, भारी है या हलकी, शीतल है या गर्म, स्निग्ध है या रूक्ष ? शरीर के सिवाय आत्माका इस प्रकार का संवेदन अनुभव होता नहीं है। यही कारण है कि जो जीव और शरीर को भिन्न मानते हैं वे उसे शरीर से भिन्न पा नहीं सकते। जैसे कोई पुरुष म्यान से तलवार, तिनके से मुञ्ज (सन) मांस से हड्डी, हथेली से आँवले, दही से मक्खन, तिल से तेल, इक्षु से रस और अरणी से अग्नि को अलग करके बता सकता है, वैसे ही कोई पुरुष देह से जीव को अलग करके नहीं बता सकता है। इसलिये जीव और शरीर को भिन्न बताना-सरासर झूठ है।

इस प्रकार वे इसका समर्थन करते हैं कि भले किसी को मारो, खोदो, छेदो, जलाओ, पकाओ, लूटो, बलात्कार करो; चाहे जो करो। क्योंकि शारीरिक जीवन से भिन्न कोई परलोक नहीं है। वे शरीरात्मवादी यह नहीं मानते हैं कि यह करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए, यह सुकृत है, यह

दुष्कृत है, यह कल्याण है, यह पाप है, यह अच्छा है, यह बुरा है, यह सिद्धि है असिद्धि है और यह नर्क है, यह नर्क नहीं है अर्थात् स्वर्ग है। इस प्रकार वे नाना भांति के कर्मों के समारंभ के द्वारा विविध काम-भोगों को भोगने के लिये आरंभ करते हैं।

इस प्रकार वे प्रगल्भता से उन संसारियों के पास आकर अपने धर्म का प्रतिपादन करते हैं कि मेरा कहा हुआ सिद्धान्त ही सत्य धर्म है। उन सभासदों में से कोई एक, उनके सिद्धान्त पर श्रद्धा करते हैं, विश्वास करते हैं, रुचि करते हैं और वे कहते हैं–आपने अच्छा युक्त संगत सिद्धान्त सुनाया। हे श्रमण, माहण ! मैं आपकी योग्य पूजा करता हूं। अन्न-पान, खाद्य–स्वाद्य, वस्त्र, परिग्रह, कम्बल, पैरलुंछन आदि सामग्रियों के द्वारा, कोई ऋद्धिवाला व्यक्ति सभी पूजा सत्कार की वस्तुओं का संग्रह करके, उनकी पूजा में प्रवृत्त होता है।

वे श्रमणादि पहले प्रतिज्ञा करते हैं—'मैं श्रमण, अनगार, अकिञ्चन, पुत्र-रहित, पशु आदि परिग्रह से रहित और पर-दत्त-भोजी भिक्षु बनूंगा. पाप कर्म नहीं करूँगा'। इस प्रकार धर्म करने को तत्पर होकर, पुनः स्वच्छन्दता से पाप कर्मों से निवृत्त नहीं होते हैं और स्वयं सावद्य कर्त्तव्य करते हैं, दूसरे से कराते हैं और सावद्य कर्म करने वाले का अनु-मोदन करते हैं। इस प्रकार वे स्त्री, काम-भोगों मे अपने को

भूल जाते हैं—आसक्त हो जाते हैं--काम-भोगों में बंध जाते हैं- डूब जाते हैं--लुब्ध होते हैं और राग-द्वेष के वश होकर आर्त बन जाते हैं। वे न तो अपने बंधन काट सकते हैं और न दूसरों के बन्धन काट सकते हैं तथा न किसी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को अपने आतंक से मुक्त कर सकते हैं। वे अपने स्त्री-पुत्र आदि से तो दूर हो ही जाते हैं और आर्य मार्ग से भी दूर हो जाते हैं। वे न दीन के रहते हैं न दुनिया के और बीच में ही काम-भोग के कीचड़ में फँस जाते हैं।

मैंने यह पहला पुरुष शरीरात्मवादी (तज्जीवतच्छ--रीर) कहा है।

अहावरे दोच्चे पुरिसजाए पंच–महब्भूइए त्ति आहिज्जइ। १०।

इह खलु पाईणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना, तंजहा–आरिया वेगे, अणारिया वेगे एवं जाव दुरूवा वेगे। तेसिं च णं महं एगे राया भवइ महया एवं चेव निरवसेसं जाव सेणावइ पुत्ता।

तेसिं च णं एगतिए सड्ढी भवइ कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए। तत्थ अन्नयरेणं धम्मेणं पन्नतारो-वयं इमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो, से एव-मायाणह भयंतारो जहा मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवति।

(इस सूत्रांश का अर्थ नववें सूत्रके 'सुपन्नते भवइ' यहां तक के अंश के समान है।)

इह खलु पंचमहब्भूया, जेहिं नो विज्जइ किरिया त्ति वा अकिरिया त्ति वा, सुक्कडे त्ति वा दुक्कडे त्ति वा, कल्लाणे त्ति वा पावए त्ति वा, साहुत्ति वा असाहु त्ति वा, सिद्धि त्ति वा असिद्धि त्ति वा, निरए त्ति वा अणिरए त्ति वा। अवि अंतसो तण-माय-मवि ॥११॥

(पंच महाभूत वादी कहता है-—) संसार में जो कुछ है पंच महाभूत ही है, इसलिए कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य, सुकृत–दुष्कृत, कल्याण–पाप, अच्छा-बुरा, सिद्धि–असिद्धि, और नर्क–स्वर्ग कुछ भी नहीं है। अतः जो तृण जितना भी कार्य होता है, वह पंच महाभूतों के द्वारा ही होता है।

टिप्पणी—भगवान ने विचारधाराओं का इस प्रकार से वर्गीकरण किया है, इन वर्गों में अनेक विचार-धाराओं का अन्तर्भाव हो सकता है। उदाहरण स्वरूप यह बताया जा सकता है कि धातुवादी बौद्धों और आजकल प्रचलित कुछ विचार-धाराओं का अन्तर्भाव पहले पुरुष में हो सकता है और प्रकृति वादी सांख्य, भौतिक अणुवादी वैज्ञानिकों आदि का इस दूसरे पुरुष में।

तं च पिहुद्देसेणं पुढो-भूत-समवायं जाणेज्जा। तं जहा-पुढवी एगे महब्भूये, आऊ दुच्चे महब्भूये, तेऊ तच्चे महब्भूये, वाऊ चउत्थे महब्भूये, आगासे पंचमे महब्भूये।

उस भूत-समूह के अलग-अलग नाम हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश, क्रमशः ये पाँच महाभूत हैं।

इच्चेते पंच-महब्भूया अणिम्मिया अणिम्माविया अकडा, णो कित्तिमा णो कडगा अणाइया अणिहणा, अवंझा अपुरोहिया, सतंता सासया। आयछट्ठा पुण एगे एवमाहु—सतो णत्थि विणासो, असतो णत्थि संभवो।

एतावता व जीवकाए, एतावता व अत्थिकाए एतावता व सव्व लोए, एतं मुहं लोगस्स करणयाए; अवि अंतसो तण-माय-मवि।

—ये पाँच महाभूत किसी के द्वारा अनिर्मित [कभी इनका निर्माण (संभवतः आविर्भाव) नहीं हुआ है] अनि-र्मापित (किसी के द्वारा इनका निर्माण नहीं हुआ है), अकृत [किसी की कृति भी नहीं है], अकृत्रिम, अकृतक [इनका कोई कर्त्ता या नियंता नहीं है], अनादि-अनिधन (अनन्त) अवन्ध्य (समस्त कार्य करने वाले), अपुरोहित (इन्हें कार्य में प्रवृत्त करनेवाली इनसे भिन्न कोई शक्ति नहीं है), स्वतन्त्र और शाश्वत है। और कई आत्मषष्ठवादी इसप्रकार कहते हैं कि सत् का विनाश नहीं होता और असत की उत्पत्ति नहीं होती है।

ये पाँच महाभूत ही जीवकाय हैं, ये ही अस्तिकाय हैं, ये ही लोक हैं, ये ही लोक के और तृण मात्र के भी प्रमुख कारण हैं।

से किणं किणावेमाणे, हणं घायमाणे, पयं पयावे-माणे, अवि अंतसो पुरिसमवि कीणित्ता घायइत्ता एत्थं पि

जाणाहि नत्थित्थ दोसो। ते नो एव विप्पडिवेदेंति, तं जहा–किरिया इ वा जाव अणिरए इ वा। एवं ते विरूव-रूवेहिं कम्म-समारंभेहिं विरूव-रूवाइं काम-भोगाइं समार भंति भोयणाए।

एव-मेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा जाव इतितेणो हव्वाए णो पाराए, अंतरा काम-भोगेसु विसण्णा।

दोच्चे पुरिसजाए पंच महब्भूइए त्ति आहिए ॥१०॥

इसलिये खरीदी करने और कराने में, मारने-मरवाने में, पकाने-पकवानेमें—अरे कोई मनुष्य को खरीद कर—मारकर, पकावे या पकवावे तो इसमें कुछ दोष नहीं है।

(शेष सूत्र का अर्थ नववें सूत्र के अंतिम अंश के सदृश है)

यह दूसरा पुरुष पंच महाभूतवादी कहा है।

अहावरे तच्चे पुरिस-जाए ईसर-कारणिए त्ति आहिज्जइ।

इह खलु पाईणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना। तं जहा-आरिया वेगे जाव तेसिं च णं महंते एगे राया भवइ जाव सेणावइ-पुत्ता।

तेसिंच एगइए सड्ढी भवइ कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए, जाव जहा मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवइ।

अब तीसरे पुरुष--ईश्वर कारणिक का कथन करते हैं
[शेष सूत्रांश का अर्थ नववें सूत्रके पूर्वांशके सदृश]

इह खलु धम्मा पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिस-प्पणीया पुरिस-संभूया पुरिस-पज्जोइया पुरिस-मभिसमण्णा-गया पुरिस-मेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहानामए गंडे सिया, सरीरे जाए, सरीरे संवुड्ढे, सरीरे अभिसमण्णागए, सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ; एव-मेव धम्मा पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहानामए अरई सिया, सरीरे जाया, सरीरे संवुड्ढा, सरीरे अभिसमण्णागया, सरीर-मेव अभिभूय चिट्ठइ; एव-मेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहानामए वम्मिए सिया, पुढवि-जाए, पुढवि-संवुड्ढे, पुढवि-अभिसमण्णागए पुढवि-मेव अभिभूय चिट्ठइ; एव-मेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहानामए रुक्खे सिया पुढविजाए, पुढवि-संवुड्ढे, पुढवि-अभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ; एव-मेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहा-नामए पुक्खरिणी सिया पुढवि-जाया जाव पुढवि-मेव अभिभूय चिट्ठइ; एव-मेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहाना-मए उदग-पुक्खले सिया, उदग-जाए जाव उदगमेव अभि-भूय चिट्ठइ; एव-मेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहानामए उदगबुब्बुए सिया उदग-

जाए जाव उदग-मेव अभिभूय चिट्ठइ; एव-मेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

(वे ईश्वरवादी कहते हैं—) इस जगत् में जितने भी पदार्थ हैं उन सब का आदि कारण पुरुष या ईश्वर है; सभी पदार्थ उसीसे प्रगट हुए हैं, उसीने बनाये हैं, उसने ही उत्पन्न किये हैं, वस्तुमात्र उसीसे प्रकाशित हैं, सभी उसमें ही पूरी तरह से अनुगमन करते हैं और सभी उसके आश्रय से ही टिके हुए हैं। जैसे फोड़ा और बेचैनी शरीर में ही उत्पन्न होती है, शरीर में ही बढ़ती है, शरीर में ही लय-विलय होती रहती है और शरीर के आश्रय से ही स्थित रहती है और वाल्मीक (उदई का घर), वृक्ष, पुष्करिणी, जल की अधिकता और बुद्बुद् मट्टी और जल से ही उत्पन्न होते हैं तथा मट्टी और जल के आधार से ही टिकते हैं—वैसे ही समस्त जगत पुरुष-ईश्वर से उत्पन्न होकर, उसमें ही व्याप्त होकर रहता है।

जं पि य इमं समणाणं निग्गंथाणं उदिट्ठं पणीयं वियञ्जियं दुवालसङ्गं गणि-पिडगं, तं जहा—

आयारो, सूयगडो जाव दिट्ठिवाओ, सव्वमेयं मिच्छा, ण एयं तहियं, ण एयं आहा-तहियं। इमं सच्चं, इमं तहियं, इमं आहातहियं। ते एवं सन्नं कुव्वंति, ते एवं सन्नं संठवेंति, ते एवं सन्नं सोवट्ट-वयंति; तमेव ते तज्जाइयं दुक्खं णातिउट्टंति सउणी पंजरं जहा।

(वे ईश्वरकारणवादी कहते हैं—) श्रमण निर्ग्रन्थों द्वारा उपदिष्ट, रचित और प्रचारित आचारांग--सूयगडांग आदि बारह अंगवाला गणिपिटक मिथ्या है, तथ्य-रहित है, वस्तु-स्वरूप के मर्म से शून्य है। परन्तु हमने जिन विचारों का प्रतिपादन किया है, वे ही सत्य है, तथ्य है और वस्तु स्वरूप को बतानेवाले हैं।

इसप्रकार वे ईश्वर कारणवादी कल्पना करते हैं, इसी की स्थापना करते हैं और दूसरे से भी यह मत मनवाते हैं, परन्तु वे इस प्रकार की समझ से उत्पन्न होनेवाले दु:खों का नाश नहीं कर सकते—जैसे कि पिंजड़े में बंद पक्षी पिंजड़े को तोड़कर, मुक्त नहीं हो सकता है।

ते णो एवं विप्पडिवेदेंति तं जहा-किरिया इ वा, जाव अणिरए इ वा; एवमेव ते विरूव-रूवेहिं कम्म-समारंभेहिं विरूव-रूवाइं काम-भोगाइं समारभंति भोयणाए। एवमेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना एवं सद्दहमाणा जाव इति ते नो हव्वाए नो पाराए, अन्तरा काम भोगेसु विसण्णे त्ति।

तच्चे पुरिसजाए ईसर-कारणिए त्ति आहिए।११।

क्योंकि वे क्रिया-अक्रिया आदि बातों की अवहेलना करके, नाना भाँति के कर्म-समारंभों के द्वारा काम-भोग को भोगने के लिये आरंभ करते हैं। इसप्रकार भ्रम में पड़े हुए, कर्त्तव्य से अनार्य्य व्यक्ति, ऐसी श्रद्धा करते हुए, काम-भोग के कीचड़ में फँस कर, न इस लोक के रहते हैं न परलोकके।

यह तीसरे ईश्वर-कारणिक पुरुष का मत कहा।

अहावरे चउत्थे पुरिस जाए नियति-वाइए त्ति आहिज्जइ।

इह खलु पाईणं वा ६ तहेव जाव सेणावइ-पुत्ता वा। तेसिं च णं एगइए सड्ढी भवइ कामं समणा य माहणा य संपहारिंसु गमणाए जाव मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवइ।

अब चौथे नियतिवादी पुरुषका वर्णन किया जाता है।

(शेष सूत्रका अर्थ ९ वें सूत्र के पूर्वांश के समान)

इह खले दुवे पुरिसा भवंति—एगे पुरिसे किरिय-माइक्खइ, एगे पुरिसे नो किरिय-माइक्खइ। जे य पुरिसे किरिय-माइक्खइ जे य पुरिसे नो किरिय-माइक्खइ दो वि ते पुरिसा तुल्ला एगट्ठा, कारण-मावन्ना।

(वे नियति वादी कहते हैं—) संसार में दो प्रकार के मनुष्य हैं—क्रियावादी और अक्रियावादी। वे दोनों एक समान हैं, क्योंकि वे दोनों वस्तु के कारण को (मत-भेद से) स्वीकार करते हैं।

वाले पुण एवं विप्पडिवेदेंति कारण-मावन्ने—अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा अहमेय-मकासि; परो वा जं दुक्खइ वा सोयइ वा जूरइ वा तिप्पइ वा पीडइ वा परितप्पइ वा परो एव-मकासि। एवं से वाले सकारणं वा परकारणं वा एवं

विप्पडिवेदेंति कारण-मावन्ने ।

वे अज्ञानी कारण को इसप्रकार सोचते हैं—'मैं जो दुःख भोग रहा हूँ, शोक-संतप्त हो रहा हूँ, रो रहा हूँ, रोगी हो रहा हूँ, पिटा जा रहा हूँ, परिताप पा रहा हूँ—यह सब मेरे ही किये का फल है और जो कोई दूसरा दुःखी है, शोक-मग्न है, रोता है, रोगी है, पिटता है, परिताप पाता है तो यह सब उसके अपने कर्म के फल हैं'—इसप्रकार वे अज्ञानी स्व या पर को कारण मानते हैं।

मेहावी पुण एवं विप्पडिवेदेंति कारण-मावन्ने-अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीड़ामि वा परितप्पामि वा, नो अहं एव-मकासि। परो वा जं दुक्खइ वा जाव परितप्पइ वा णो परो एव-मकासि। एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेंति कारणमावन्ने-से बेमि पाईणं वा ६ जे तस-थावरा पाणा ते एवं संघाय-मागच्छन्ति, ते एवं विपरियास-मावज्जंति, ते एवं विवेगमागच्छंति ते एवं विहाण-मागच्छंति ते एवं सङ्गतियन्ति उवेहाए।

(नियति वादी कहते हैं)—और जो बुद्धिमान हैं वे कारण का इसप्रकार अनुभव करते हैं—'मैं दुःखी हूँ या परितापित हूँ तो इसका उत्तरदायी मै नहीं हूँ या दूसरा कोई दुःखित है तो उसका उत्तरदायी वह नहीं है'—ऐसे सोच कर बुद्धिमान् जिस स्व-परके कारण का अनुभव करते हैं वह

अन्न-मन्नं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा-खेत्तं मे, वत्थू मे, हिरण्णं मे, सुवण्णं मे, धणं मे, धण्णं मे, कंसं मे, दूसं मे, विपुल-धण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संखसिल-प्पवाल-रत्तरयण-संतसारसावतेयं मे, सद्दामे, रूवा मे, गंधा मे, रसा मे, फासा मे, एते खलु मे कामभोगा अहमवि एतेसिं;' से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा, तं जहा-इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुप्पज्जेज्जा-अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुन्ने अमणामे दुक्खे नो सुहे; से हंता भयंतारो, काम भोगाइं मम अन्नयरं दुक्खं रोया-तङ्कं परियाइयह अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुन्नं अमणामं दुक्खं नो सुहं; ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा, जूरामिवा, तिप्पामि वा, पीडामि वा, परितप्पामि वा इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खाओ रोगातंकाओ पडिमोयह अणिट्ठाओ अकंताओ अप्पियाओ असुभाओ अमणुन्नाओ अमणामाओ दुक्खाओ नो सुहाओ—एवमेव नो लद्धपुव्वं भवइ। इह खलु काम-भोगा नो ताणाए वा नो सरणाए वा। पुरिसे वा एगता पुव्विं कामभोगे विप्पजहति, काम भोगा वा एगता पुव्विं पुरिसं विप्प-जहंति। अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि, से किमंग पुण वयं अन्न-मन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ? इति संखाए णं वयं च कामभोगेहिं विप्पजहिस्सामो।

वह भिक्षावृत्ति के लिये उद्यत पुरुष यह पहले से ही

जानता है--इन काम-भोगों को अपने से सर्वथा भिन्न होने पर भी पुरुष इन्हें अपना समझते हैं। पुरुष समझते हैं—'मेरी जमीन, मेरा घर, मेरी चाँदी, मेरा सोना, मेरा धन, मेरा धान्य, मेरा काँसा, मेरा दूष्य, मेरे विपुल धन-स्वर्ण-रत्न-मणि मोती-शंखशिला-प्रवाल-लाल-पैतृक सम्पत्ति, मेरे शब्द (वाद्य, मधुर स्वर आदि), मेरे रूप (सुन्दर वस्तुएँ), मेरे गंध (सुगंधित पदार्थ), मेरे रस (रसीले पदार्थ) और मेरे स्पर्श (प्रिय स्पर्शवाले पदार्थ) हैं—ये सब काम भोग मेरे हैं और मैं इनका [भोक्ता या स्वामी] हूँ। परन्तु बुद्धिमान व्यक्ति यह समझ ले कि जब मुझे किसी प्रकार का अनिष्ट, अकान्त अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, पीड़ाकारी और असह्य दुःख उत्पन्न हो, तब मैं जिनको भय से बचानेवाला समझता हूँ, उन काम भोगों को कहूँ कि मेरे इस अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ अमनोज्ञ, पीड़ाकारी और असह्य महान् कष्ट में हिस्सा बँटालो जिससे कि मैं दुःखित हूँ, चिन्तित हूँ, रोता हूं, कृश हो रहा हूं, पीड़ा पा रहा हूं, संताप पा रहा हूं--मुझे इससे बचाओ ! बचाओ ! —पर वे दुःख से नहीं छुड़ा सकते। इसलिये वे काम-भोग न किसी की रक्षा करने में समर्थ हैं और न किसी को शरण देने में। कभी तो पुरुष इन काम-भोगों को यहीं छोड़कर चल देता है और कभी काम-भोग ही पुरुष को छोड़-कर चल देते हैं। अतः ये मेरे से भिन्न हैं और मैं इनसे भिन्न हूँ। फिर हम एक दूसरे भिन्न होकर भी काम-भोगों में

क्यों आसक्त हो रहे हैं ? ऐसी बात है तो हम स्वयं ही काम-भोगों को छोड़ देंगे ।

से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेतं, इणमेव उवणीय-तरागं, तं जहा-माया मे, पिता मे, भाया मे, भगिणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूता मे, पेसा मे, नत्ता मे सुण्हा मे, सुहा मे, पिया मे, सहा मे, सयण-संगंथ-संथुया मे-ऐते खलु मम नायओ अहमवि एतेसिं; एवं से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा— इह खलु मम अन्ययरे दुक्खे रोयातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव दुक्खे नो सुहे, से हंता भयंतारो, नायओ इमं मम अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परि-याइयह अणिट्ठं जाव नो सुहं, ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जाव परितप्पामि वा, इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खाओ रोयातङ्काओ परिमोएह अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ, एवमेव णो लद्ध-पुव्वं भवइ । तेसिं वा वि भयंतारा-णं मम नायया-णं अन्नयरे दुक्खे रोयातंके समुपज्जेज्जा अणिट्ठे जाव णो सुहे, से हंता अहमेतेसिं भयंताराणं नाययाणं इमं अन्नयरं दुक्खं रोयातंकं परियाइयामि अणिट्ठं जाव नो सुहं, मा मे दुक्खंतु वा जाव मा मे परतप्पंतु वा; इमाओ णं अन्नयराओ दुक्खाओ रोयातंकाओ परिमोएमि अणिट्ठाओ जाव नो सुहाओ, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ ! अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयति, अन्नेण कडं अन्नो नो पडिसंवेदेति । पत्तेयं जायति, पत्तेयं मरइ; पत्तेयं चयइ, पत्तेयं उववज्जइ, पत्तेयं

झञ्झा, पत्तेयं सन्ना, पत्तेयं मन्ना एवं विन्नू-वेदणा। इह खलु णाति-संजोगा नो ताणाए वा नो सरणाए वा। पुरिसे वा एगता पुव्विं णाति-संजाए विप्पजहाति, णाति-संजोगा वा एगता पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति। अन्ने खलु णाति-संजोगा अन्नो-अहमंसि; से किमंग पुण वयं अन्न-मन्नेहिं णाति-संजोगेहिं मुच्छामो? इति संखाए णं वयं णाति-संजोग विप्पजहिस्सामो।

वह बुद्धिमान् यह भी समझ ले कि ये निकट के सम्बन्धी भी आत्मा से भिन्न हैं—माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी, पुत्र-पुत्री, दास-दासी, नाती, पुत्र-वधू, मित्र, प्रेमी, साथी आदि में पुरुष अपनत्त्व स्थापित करके समझते हैं कि ये बन्धु-बान्धव मेरे हैं और मैं इनका हूँ। परन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति यह समझ ले कि जब रोग से अपने कोई दुःख होता है अथवा उन सम्बन्धियों को रोग से कुछ दुःख होता है तब न सम्बन्धी उसके रोग में हिस्सा बँटा सकते हैं और न वही सम्बन्धियों के रोग में हिस्सा बँटा सकता है। वे एक दूसरे को दुःख से नहीं बचा सकते। क्योंकि किसी का दुःख कोई दूसरा नहीं ले सकता; किसी के कर्म का फल कोई दूसरा नहीं भोग सकता। व्यक्ति अलग-अलग पैदा होते हैं, अलग-अलग मरते हैं, अलग-अलग दूसरी गति में जाते हैं, अलग-अलग ही उपाधि=जीवन के साधन प्राप्त करते हैं और प्रत्येक के

राग-द्वेष, संज्ञा, चिन्तन-मनन, ज्ञान और वेदना स्वतन्त्र-स्वाश्रित होती है। इसलिये संसार में बन्धु-बान्धवों का संयोग न बचाने में समर्थ है, न शरण देने में। कभी सम्बन्धियों को छोड़कर व्यक्ति चल देता है तो कभी सम्बन्धी व्यक्ति को को छोड़कर चल बसते हैं। अतः न सम्बन्धी मेरे हैं और न मैं सम्बन्धियों का हूँ। परन्तु हम भिन्न होकर, परस्पर आसक्त क्यों हो रहे हैं? ऐसी बात है तो हम ही सम्बन्ध तोड़ लें!

से मेहावी जाणेज्जा बहिरंग-मेयं, इणमेव-उवणीय-तरागं, तं जहा–हत्था मे, पाया मे, बाहा मे, उरू मे, उदरं मे, सीसं मे, सीलं मे, आऊ मे, बलं मे, वण्णो मे, तया मे, छाया मे, सोयं मे, चक्खू मे, घाणं मे, जिब्भा मे, फासा मे, ममाइज्जइ; वयाउ परिजूरइ, तं जहा–आउओ, बलाओ वण्णाओ तयाओ छायाओ सोयाओ जाव फासाओ। सुसंधितो संधी विसंधी भवइ, वलिय-तरंगे गाए भवइ, किण्हा केसा पलिया भवंति; तं जहा–जं पि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवइयं एयं पि य अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सति। एयं संखाए से भिक्खू भिक्खायरियाए समुट्ठिए दुहओ लोगं जाणेज्जा, तं जहा-जीवा चेव अजीवा चेव। तसा चेव थावरा चेव ॥१३॥

वह भिक्षा-वृत्ति के लिये उद्यत बुद्धिमान व्यक्ति सम्बन्धियों को बहिरंग समझे, परन्तु इनसे अधिक निकट के इन अंगों को भी बहिरंग समझे, जिनपर प्राणी ममत्त्व करते

हैं—'मेरे हाथ, मेरे पैर, मेरे बाहु, मेरी जंघाएँ, मेरा उदर, मेरा शीष, मेरी शिष्टता, मेरी आयुष्य, मेरा बल, मेरा वर्ण, मेरी त्वचा, मेरा लावण्य, मेरे कान, मेरी आँखें, मेरी नाक, मेरी जीभ, मेरा स्पर्श।' परन्तु वय के बढ़ने पर, आयु, बल आदि सभी (प्राणी के नहीं चाहने पर भी) हीन हो जाते हैं; सुगठित, संधियाँ ढीली पड़ जाती है, शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जाती है और काले बाल सफेद हो जाते हैं। अरे आहार से बढ़े हुए इस शरीर को भी एक दिन छोड़ देना पड़ेगा। इस प्रकार समझकर वह भिक्षावृत्ति में उद्यत होने वाला भिक्षु लोक के दो भेद जाने—जीव और अजीव। (जीवके दो भेद) त्रस और स्थावर।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे तसा-थावरा पाणा ते सयं समारभंति, अन्नेण वि समारंभावेंति, अन्नं पि समारभंतं समणुजाणंति ॥१४॥

(वह भिक्षु सोचता है)—इस लोक में गृहस्थ तो सारंभी, स-परिग्रही होते हैं, पर कई श्रमण-ब्राह्मण आरभी-परिग्रही होते हैं। वे इन त्रस-स्थावर प्राणियों की स्वयं हिंसा करते हैं, दूसरे से हिंसा करवाते हैं और हिंसा करते हुए व्यक्तियों का अनुमोदन करते हैं।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा; जे इमे काम-भोगा

सचित्ता वा अचित्ता वा ते सयं परिगिण्हंति, अन्नेणं परि-
गिण्हावेंति, अन्नं पि परिगिण्हंतं समणुजाणंति ।

(वह भिक्षु सोचता है) संसार में गृहस्थ तो आरंभी परिग्रही होते ही हैं, परन्तु कई श्रमण-ब्राह्मण भी आरंभी और परिग्रही होते हैं। वे स्वयं सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के काम-भोगों को ग्रहण करते हैं, दूसरे को ग्रहण कराते हैं और ग्रहण करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन करते हैं।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, अहं खलु अणारंभे अपरिग्गहे, जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, एतेसिं चेव निस्साए बंभचेर-वासं वसिस्सामो; कस्स णं तं हेउं ? जहा पुव्वं तहा अवरं, जहा अवरं तहा पुव्वं, अंजू अणुवरया अणुवट्ठिया पुणरवि तारिसगा चेव ।

जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, दुहओ पावाइं कुव्वंति–इति संखाए दोहि वि अंतेहिं अदिस्समाणो इति भिक्खू रीएज्जा ।

--गृहस्थ तो आरंभी और परिग्रही होते हैं; परन्तु कई श्रमण-ब्राह्मण आरंभी परिग्रही होते हैं और मैं आरंभ और परि-ग्रह से रहित हूं। यदि मैं भी इन आरंभियों और परिग्रहियों की निश्राय में रहकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँ तो फिर [illegible]

और परिग्रह को त्यागने का क्या कारण ? ऐसा है तो जैसे पहले थे वैसे अब हैं और जैसे अब हैं वैसे ही पहले थे। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि वे विरक्त नहीं हैं, ब्रह्मचर्य्या में स्थित नहीं है; परन्तु पहले की अवस्था (गृहस्थी) के समान ही अभी की अवस्था है। गृहस्थ और कहे जानेवाले श्रमण ब्राह्मण दोनों पाप करते हैं—यह भिक्षु यों सोचकर, गृहस्थ और उन श्रमण ब्राह्मणों का आश्रय या आरम्भ-परिग्रह को छोड़ देता है और संयमी आचरण से रहता है।

से बेमि पाईणं वा ६ जाव एवं से परिण्णायकम्मे, एवं से ववेय-कम्मे, एवं से विअंत-कारए भवति-ति मक्खायं ॥ १४ ॥

पूर्व आदि दिशाओं से आये हुए व्यक्तियों में, वह भिक्षु ही कर्म के रहस्य को जानता है, वही कर्म-बन्धन से रहित और संसार का नाशक होता है। इस प्रकार कहा गया है।

तत्थ खलु भगवया छज्जीव-निकाय-हेऊ पण्णता, तं जहा-पुढवीकाए जाव तसकाए। से जहाणामए मम असायं दण्डेणवा, मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आउड्डिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परियाविज्जमाणस्स वा किलामिज्जमाणस्स वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणण मायमवि हिंसा-कारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेव जाण सव्वे जीवा

सव्वे भूया सव्वे पाणा सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आउद्दिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा ताडिज्जमाणा वा परियाविज्जमाणा वा किलामिज्जमाणा वा उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणण-माय-मवि हिंसा-कारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति। एवं नच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा ॥ १५ ॥

[सुधर्मा स्वामी—] भगवान् ने जीवों के पृथ्वी-काय आदि छह वर्गों में कर्म-बन्धन के कारण कहे हैं। वह भिक्षु सोचता है कि कोई मुझे डण्डे, मुट्ठी, ढेले या चाबुक से मारे, मेरी घात करे, तर्जना करे, मुझे पीटे, सन्तापित करे, क्लेश पहुँचावे, उद्वेग पहुँचावे या मेरा रोआँ मात्र भी खींचे तो मुझे अशान्ति, दुःख और भय होता है, इसीप्रकार सभी जीव, भूत, प्राण और सत्त्वों को डंडे आदि से मारने, घात करने या रोआँ मात्र भी उखाड़ने पर मेरे समान ही अशान्ति, दुःख और भय होता है। ऐसा जानकर, सभी प्राणियों की हिंसा करने योग्य नहीं है, किसी से जबरन कार्य लेना, दास दासी बनाना, किसी को सताना या उद्विग्न करना अयोग्य है।

से बेमि जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आग-मिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एव-माइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति— सव्वे पाणा जाव सत्ता

ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा । एस धम्मे धुवे णीइए सासए समिच्च लोगं खेयन्नेहिं पवेदिए । एवं से भिक्खू विरते पाणातिवायातो जाव विरते परिग्गहातो णो दंत-पक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा णो अंजणं णो वमणं णो धूवणे णो तं परिआविएज्जा ।

(सुधर्म स्वामी—) आयुष्मान् ! मैं भी तुम्हें वही कहता हूँ कि जो होगये हैं, जो हैं और जो होंगे-वे सभी अरिहंत भगवान् यही व्याख्यान करते हैं--कहते हैं—प्रतिपादन करते हैं—प्ररूपित करते हैं कि प्राण, भूत जीव, और सत्त्व में से किसी की भी हिंसा मत करो, किसी पर जबरन हुक्म मत चलाओ, अपना अधिकार मत जमाओ, किसी को सन्तापित मत करो, उद्वेग मत पहुँचाओ । यही धर्म ध्रुव, नित्य, शाश्वत है, जिसे कि खेदज्ञ—क्षेत्रज्ञ पुरुषों ने सारे लोकको जान-देखकर कहा है । यह भिक्षावृत्ति के लिये उद्यत भिक्षु ऐसा सोचकर, प्राणातिपात और परिग्रह आदि को सर्वथा छोड़ देता है और दन्तप्रक्षालन से दाँत नहीं धोता है, अञ्जन नहीं लगाता, वमन-कराने वाले पदार्थों का सेवन नहीं करता है और धूम्र-सेवन (मंत्र-तन्त्र की सिद्धि के लिये, रोग की शान्ति के लिये या अलौकिक मस्ती का अनुभव करने के लिये) नहीं करता है यों उसे नहीं करना चाहिए ।

से भिक्खू अकिरिए अलूसिए अकोहे अमाणे अमाए अलोहे उवसंते परिनिव्वुडे, नो आसंसं पुरतो करेज्जा--इमेण

वह (पाँचवा पुरुष) धर्मार्थी, धर्मज्ञानी, मोक्ष-परायण और पहले कहे हुए सभी गुणों से युक्त भिक्षु ही श्रेष्ठ है –चाहे वह उस श्रेष्ठ कमल (रूप राजा को) पाए [प्रतिबोधित कर सके] या न पाए [प्रतिबोधित न कर सके] कर्म के रहस्य को जाननेवाले, सम्बन्ध के मर्म को जानने वाले, संसार के स्वरूप को जानने वाले, उपशान्त, समिति से युक्त, कल्याण से युक्त और सदा सावधानी से व्यवहार करने वाले भिक्षु को ही श्रमण, ब्राह्मण, क्षांत, दांत, गुप्त, मुक्त, ऋषि, मुनि, कृती, विद्वान्, भिक्षु, रूक्ष=निर्लिप्त, तीरार्थी और चरण--करण का पारगामी कहा जा सकता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।—

पहला अध्ययन समाप्त



दूसरा अध्ययन

(क्रिया-स्थान)

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं--इह खलु किरिया-ठाणे णामज्झयणं पन्नत्ते, तस्स णं अय-मट्ठे॥१।

(सुधर्म स्वामी) —:आयुष्य उन भगवान् महावीर ने क्रिया--स्थान नामक अध्ययन कहा है, जिसका अर्थ-सार यह है ॥१॥

इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणे एव-माहिज्जंति, तं जहा-धम्मे चेव अधम्मे चेव; उवसंते चेव अणुवसंते चेव । २॥

इस लोक मे साधारण तौर से दो विभाग देखे जाते हैं-धर्म और अधर्म । पहला विभाग उपशान्त--शान्तिमय है और दूसरा विभाग अशान्त है ।

तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्म-पक्खस्स विभंगे तस्स णं अय-मट्ठे पन्नते । इह खलु पाईणं वा ६ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तं जहा--आरिया वेगे अणारिया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुव्वण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे। तेसिं च णं इमं एता एतारूवं दण्ड-समादाणं संपेहाए, तं जहा-णेरइएसुवा तिरिक्ख-जोणिएसु वा मणुस्सेसु वा देवेसु वा जे यावन्ने तहप्पगारा पाणा विन्नू वेयणं वेयंति ।

इनमे से पहले अधर्म विभाग के पक्षवाले के ये भेद कहे जाते हैं । इस संसार में पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओं में प्राणी आर्य-अनार्य, सबल- दुर्बल, कांतिमान्-कान्तिहीन और खूबसूरत-बदसूरत रूप में जन्म लेते हैं । उन प्राणियों को नर्क, तिर्यंच, मनुष्य और देव मे दुःख-सुख का अनुभव करते हुए, इस प्रकार दण्ड समादान=मन, वचन और काया की सावद्य प्रवृत्ति करते देखा है ।

तेसिं पि य णं इमाइं तेरस किरिया-ठाणाइं भवंतिति-मक्खायं, तं जहा-अट्ठादण्डे १, अणट्ठादण्डे २, हिंसादण्डे

व्यर्थ ही विवेकके अभावके कारण, त्रस प्राणियों को छेदता भेदता, काटता, उनकी चमड़ी उधेड़ता और उन्हें उद्वेग पहुँ-चाता है, वह अज्ञानी उनके वैर का पात्र बनता है। यह अनर्थ-दण्ड (व्यर्थ की हिंसा) है।

से जहानामए केइ पुरिसे इक्कडा इ वा, कडिणा इ वा, जंतुगा इ वा, परगा इ वा, मोक्खा इ वा, तणा इ वा, कुसा इ वा, कुच्छगा इ वा, पव्वगा इ वा, पलाला इ वा, ते णो पुत्त--पोसणाए, णो पसुपोसणाए, णो अगार-पडिवू-हणयाए, णो समण-माहण-पोसणाए, णो तस्स सरीरगस्स किंचि विपरियाइत्ता भवंति, से हन्ता छेत्ता भेत्ता लुम्पइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवइ, अणट्ठा-दण्डे।

से जहानामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा णूमंसि वा गहणंसि वा गहण विदुग्गंसि वा वणंसि वा वण-विदुग्गंसि वा पव्व-यंसि वा पव्वय--विदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय ऊसविय सयमेव अगणि-कायं णिसिरति, अन्ने वि अगणि-कायं णि-सिरावेति, अन्नं पि णिसिरन्तं समणुजाणइ अणट्ठा-दण्डे। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। दोच्चे दंड समादाणे अणट्ठा दंड वत्तिए त्ति आहिए ॥ २ ॥

कई व्यक्ति इक्कड, कठिन, जन्तुग, परग, मोक्ख, तृण, कुश, कुच्छग, पर्वक, पलाल आदि स्थावर प्राणियों का अवि--

वेक से व्यर्थ की हिंसा से वैर का भागी होते हैं।

कई व्यक्ति कछार, तालाब, पोखर आदि जलाशय, द्रव्य-राशि, उतार स्थान, वृक्ष आदि से ढँके हुए अँधेरे स्थान, गहन-भूमि, वन, वनके दुर्गम स्थल, पर्वत और पर्वत के दुर्गम स्थलों पर तृण के ढेर करके अकारण स्वयं अग्नि का प्रयोग करते हैं, दूसरे से प्रयोग कराते हैं और वहां पर अग्नि का प्रयोग करने वाले व्यक्तिका अनुमोदन करते हैं, उन्हें अनर्थ-दण्ड-प्रत्ययिक सावद्य क्रिया लगती है।

यह दूसरा अनर्थदण्ड-प्रत्ययिक दण्ड-समादान कहा गया है।

अहावरे तच्चे दण्ड-समादाणे हिंसा-दण्ड-वत्तिए त्ति आहिज्जइ।

से जहानामए केइ पुरिसे ममं वा ममिं वा अन्नं वा अन्नि वा हिंसिसु वा हिंसइ वा हिंसिस्सइ वा तं दण्डं तस-थावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति, अन्नेण वा णिसिरावेंति, अन्नं पि णिसिरंतं समणुजाणइ हिंसा-दण्डे। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। तच्चे दण्ड-समादाणे हिंसा-दण्ड-वत्तिए त्ति आहिए॥ ४॥

अब तीसरा दण्ड-समादान हिंसा-दण्ड-प्रत्ययिक (प्राणों की हिंसा से होनेवाली क्रिया) कहते हैं। कोई व्यक्ति यह सोचकर, त्रस-स्थावर प्राणियों के प्रति हिंसा का प्रयोग करते, कराते व उसका अनुमोदन करते हैं कि 'इसने मुझे या मेरे

विपरियास-दण्डे। एवं खलु तस्स-तापत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। पंचमे दण्ड-समादाणे दिट्ठि-विपरियास-दण्ड वत्तिए त्ति आहिए ॥६॥

अब पाँचवाँ दण्ड-समादान दृष्टि-विपर्यास-दण्ड-प्रत्ययिक कहा जाता है। माता, पिता, भाई, बहिन, पत्नी, पुत्र पुत्री और पुत्र आदि के सहवास में रहता हुआ, अपने मित्र को शत्रु समझकर, भ्रम से उसे मार डालता है अथवा गांव, नगर, खेड।, खर्वट (पहाड़ियों के बीच में बसा हुआ गाँव), मण्डम्ब (जिसके आजुबाजु योजन की दूरी तक कोई गाँव न हो, ऐसा गाँव), द्रोणमुख (नदी के मुहाने पर बसा हुआ गाँव) पट्टण (रत्न आदिकी खदानवाला गाँव), आश्रम (तापसों का निवास-स्थल), संनिवेश (मंडी), निगम (व्यापारका मुख्य केन्द्रस्थल), राजधानी में मार-काट के समय (या डाका पड़ने के समय) जो चोर नहीं है उसे चोर के भ्रम से कोई मार देता है, तो उस व्यक्तिको इसप्रकार की भ्रमसे होने वाली सावद्य क्रियाओं में दृष्टि-विपर्यास-दण्ड प्रत्ययिक क्रिया लगती है। यह दृष्टि-विपर्यास-दण्ड नाम का पाँचवा दण्ड-समादान कहा गया है।

अहवारे छट्ठे किरियट्ठाणे मोसा-वत्तिए त्ति आहिज्जइ। से जहा नामए केइ पुरिसे आय-हेउं वा णाइ-हेउं वा अगार-हेउं वा परिवार-हेउं सयमेव मुसं वयइ, अन्नेण वि मुसं वाएइ, मुसं वयंतं पि अन्नं समणुजाणइ; एवं खलु तस्स

तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। छट्ठे किरिय-ट्ठाणे मोसा-वत्तिए त्ति आहिए ॥७॥

अहावरे सत्तमे किरिय-ट्ठाणे अदिन्नादाण-वत्तिए त्ति आहिज्जइ। से जहानामए केइ पुरिसे आयहेउं वा जाव परिवार-हेउं वा सयमेव अदिन्नं आदियइ, अन्नेण वि अदिन्नं आदियावेइ, अदिन्नं आदियं तं अन्नं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। सत्तमे किरिय-ट्ठाणे अदिन्नादाण-वत्तिए त्ति आहिए ॥८॥

अब छट्ठा क्रियास्थान मृषा-प्रत्ययिक कहा जाता है। कोई व्यक्ति अपने लिये, जाति के लिये, गृहस्थी के लिये या परिवार के लिये स्वयं झूठ बोले, दूसरे से झूठ बुलवाए या झूठ बोलते हुए व्यक्ति का अनुमोदन करे तो मृषावाद प्रत्ययिक क्रिया लगती है। यह छट्ठा क्रियास्थान।

सातवाँ क्रिया स्थान......किसी के भी लिये अदत्ता-दान ग्रहण करे अर्थात चोरी करे, कराए और करते हुए व्य--क्ति का अनुमोदन करे तो सातवीं अदत्तादान-प्रत्ययिक क्रिया लगती है......

अहावरे अट्ठमे किरिय-ट्ठाणे अज्झत्थ-वत्तिए त्ति आ-हिज्जइ। से जहानामए केइ पुरिसे नत्थि णं केइ किंचि विसंवादेति सय-मेव हीणे दीणे दुट्ठे दुम्मणे ओहय-मण-संकप्पे चिंता-सोग-सागर-संपविट्ठे करतल-पल्हत्थ-मुहे अट्ट-ज्झाणोवगए-भूमि-गय-दिट्ठिए झियाइ, तस्स णं अज्झत्थया

आसंसइया चत्तारि ठाणा एव-माहिज्जन्ति, तं कोहे माणे माया लोहे, अज्झत्थ-मेव कोह-माण-माया-लोहे, एवं खलु तस्स पप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। अट्ठमे किरिय-ट्ठाणे अज्झत्थ-वत्तिए त्ति आहिए ॥९॥

आठवाँ क्रिया स्थान अध्यात्म-प्रत्ययिक कहा जाता है। कई पुरुष उनके लिये विषाद के कुछ कारण नहीं होने पर भी हीन, दीन, दुष्ट और बुरे विचार करता रहता है, वह अपनी हथेली पर मुँह रखकर, चिन्ता के सागर में गोते खाया करता है और आर्त ध्यान में लीन होकर भूमि की ओर ताकता रहता है। उसकी आत्मा में क्रोध, मान माया=छलकपट और लोभ भावना, विचार करते हुए अवश्य आती रहती है। क्रोध आदि अपने आप उत्पन्न होकर, उसकी आत्मा में ही रहते हैं, इसलिये इन्हें अध्यात्म कहा है। उस अपने आप शोक में मग्न पुरुष को अध्यात्म-प्रत्ययिक सावद्य क्रिया लगती है। यह अध्यात्म-प्रत्यायिक आठवाँ क्रिया-स्थान कहा है।

अहावरे णवमे किरियट्ठाणे माण-वत्तिए त्ति आहि-ज्जइ। से जहानामए केइ पुरिसे जाति-मएण वा, कुल-मएण वा, बल-मएण वा, रूव-मएण वा, तव-मएण वा, सुय मएण वा, लाभ-मएण वा, इस्सरिय-मएण वा, पन्ना-मएण वा, अन्नतरेण वा, मय-ट्ठाणेणं मत्ते समाणे परं हीले ति निंदेति खिंसति गरहति परिभवइ अवमन्नेति; इत्तरिए अयं, अहमंसि पुण विसिट्ट-जाइ-कुल-बलाइ-गुणोववेए-एवं

अप्पाणं समुक्कस्से, देह-च्चुए कम्म बितिए अवसे पयाइ। तं जहा-गब्भाओ गब्भं, ४ जम्माओ जम्मं, माराओ मारं नरगाओ णरगं, चंडे थद्धे चवले माणी यावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। नवमे किरिय-ट्ठाणे माणवत्तिए त्ति आहिए ॥१०॥

अब नववाँ क्रिया-स्थान मान-प्रत्ययिक कहा जाता है। जैसे कोई व्यक्ति जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, बुद्धि आदि के अभिमान में मत्त होकर, दूसरे मनुष्यों की अवहेलना, निंदा, घृणा, भर्त्सना और तिरस्कार करता है; वह सोचता है—'यह हीन है और मैं तो श्रेष्ठ जाति, कुल और बल आदि गुणों से युक्त हूँ—' इसप्रकार अभिमान करनेवाला वह व्यक्ति इस देह को छोड़ कर, कर्म से वशीभूत होकर, लाचार बनकर परिभ्रमण करता रहता है। और गर्भ के बाद गर्भ; जन्म पर जन्म, मृत्यु पर मृत्यु, और नर्क पर नर्क पाता है। वह भयंकर, अकड़नेवाला, चञ्चल और अभिमानी होता है। उसे मान-प्रत्ययिक क्रिया लगती है। यह नववाँ क्रियास्थान .... ..

अहावरे दसमे किरिय-ट्ठाणे मित्त-दोस-वत्तिए त्ति आहिज्जइ। से जहानामए केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भाईहिं वा भइणीहिं वा भज्जाहिं वा धूयाहिं वा पुत्तेहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे तेसिं अन्नयरंसि अहा-लहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दण्डं निवत्तेइ, तं जहा-सीओदग-

वियडंसि वा कायं उच्छालित्ता भवति, उसिणोदग-वियडेण वा कायं ओसिञ्चित्ता भवति, जोत्तेण वा वेत्तेण वा नेत्तेण वा तयाइ वा (कण्णेण वा छियाए वा) लयाए वा (अन्न-यरेण वा दव-रएण वा) पासाइं उद्दालित्ता भवति, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा कायं आउ-ट्टित्ता भवत्ति । तहप्पगारे पुरिस-जाए संवसमाणे दुम्मणा भवइ, पवसमाणे सुमणा भवति । तहप्पगारे पुरिस-जाए दंड-पासी दंड-गुरुए दंड-पुरक्कडे अहिए इमंसि लोगंसि परंसि लोगंसि संजलणे कोहणे पिट्ठि-मंसी यावि भवइ । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ । दसमे किरिय-ट्ठाणे मित्त-दोस-वत्तिए त्ति आहिए ।११।

दसवाँ क्रियास्थान मित्र द्वेष-प्रत्ययिक । जैसे कोई पुरुष माता-पिता आदि परिजनों के साथ रहते हुए, उनमें से किसी के थोड़े से अपराध के बदले भारी या कठोर दण्ड देता है, जैसे कि सरदी के समय में ठण्डे पानी में डुबकी लगवाना, गर्मी के दिनों गरम जल छिटकना, आगसे शरीर दागना, बेंत छड़ी, रस्सी, चाबुक या और किसी से मार-मार कर पीठ की खाल उधेड़ देना और डण्डे आदि से प्रहार करना । ऐसे पुरुष के साथ रहना बुरा लगता है और उसके दूर रहने से शान्ति मिलती है । जो पुरुष हमेशा (दंडपासी) जरा-जरा सी बात के लिये (दण्डपूरक्कडे) कठोर दण्ड (दण्ड-गुरुए) देता है, वह इसलोक में अपना अहित करता है और परलोक में

ईर्ष्यालु, क्रोधी और निंदक बनता है। उसको मित्र द्वेष प्रत्ययिक क्रिया लगती है। यह दसवाँ क्रियास्थान. ...

अहावरे एक्कारसमे किरिय-ट्ठाणे माया वत्तिए त्ति आहिज्जइ। जे इमे भवंति गूढायारा तमोकसिया उलुग-पत्त-लहुया पव्वय-गुरुया ते आरिया वि संता अणारियाओ भासाओ वि पउज्जंति; अन्नहा सन्तं अप्पाणं अन्नहा मन्नंति; अन्नं पुट्ठा अन्नं वागरंति; अन्नं आइक्खियव्वं अन्नं आइक्खंति। से जहानामए केइ पुरिसे अन्तोसल्ले तं सल्लं णो सयं निहरति नो अन्ने णं निहरावेति, णो पडिविद्धंसेइ एवमेव निण्हवेइ, अविउट्टमाणे अंतो-अंतो रियइ, एव-मेव माई मायं कट्टु नो आलोएइ, नो पडिक्कमेइ, नो निन्दइ, नो गरहइ, नो विउट्टइ, नो विसोहेइ, नो अकरणाए अब्भुट्ठेइ, नो अहारिहं तवो-कम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ; माई अस्सिं लोए पच्चायाइ, माई परंसि लोए (पुणो पुणो) पच्चायाइ निंदइ गरहइ पसंसइ निच्चरइ ण नियट्टइ, णिसिरियं दण्डं छाएति, माई असमाहड-सुहलेस्से या वि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ। एक्कारसमे किरिय-ट्ठाणे माया-वत्तिए त्ति आहिए ॥१२॥

ग्यारहवां क्रियास्थान माया प्रत्ययिक — कई ऐसे व्यक्ति होते हैं कि जो अपने आचरण को छिपाकर, दूसरे लोगों को अन्धेरे मे—धोखे मे रखते हैं; उल्लू के पंख सा तुच्छ होने पर भी अपने को पर्वत के समान बड़ा भारी बताते हैं। वे आर्य

है। इसप्रकार सदा जाग्रत संयमी मुनियों को भी ऐर्य्यापथिक क्रिया से लगने वाला सावद्य कहते हैं। यह तेरहवाँ क्रिया-स्थान कहा गया है।

भूत, वर्त्तमान और भविष्य में जितने भी अरिहन्त हुए, हैं और होंगे वे सभी इन तेरह क्रियास्थानों को कह गये-प्रतिपादित कर गये हैं, कहते हैं-प्रतिपादित करते हैं और कहेंगे प्रतिपादन करेंगे, वही मैं भी कहता हूं।

अदुत्तरं च णं पुरिस-विजयं विभंग-माइक्खिस्सामि। इह खलु नाणा-पन्नाणं नाणा-छंदाणं नाणा-सीलाणं नाणा दिट्ठीणं नाणा-रुईणं नाणा-रंभाणं नाणा-ज्झवसाण-संजुत्ताणं नाणाविह-पाव सुय-ज्झयणं एवं भवइ। तं जहा-भोमं उप्पायं सुविणं अंतलिक्खं अंगं सरं लक्खणं वञ्जण इत्थि-लक्खणं पुरिस लक्खणं हय-लक्खणं गय-लक्खणं गोण-लक्खणं मिढ-लक्खणं कुक्कड-लक्खणं तित्तिर-लक्खणं वट्टग-लक्खणं लावय-लक्खणं चक्क-लक्खणं छत्त-लक्खणं चम्म-लक्खणं दंड लक्खणं असि-लक्खणं मणि-लक्खणं कागिणि-लक्खणं, सुभगाकरं दुब्भगाकरं गब्भाकरं मोहणकरं आहव्वणि -पागसासणिं दव्व होमं खत्तिय-विज्जं चंद-चरियं सूर-चरियं सुक्क-चरियं वहस्सइ-चरियं उक्का-पायं दिसा-दाहं मिय-चक्कं वायस-परिमंडलं पंसु-वुट्ठिं केस-वुट्ठिं मंस वुट्ठिं रुहिर-वुट्ठिं वेत्तालिं अद्ध-वेतालिं ओसोवणिं तालुग्घाडणिं सोवागिं सोवारिं दामिलिं कालिङ्गिं गोरिं गान्धारिं ओवतणिं उप्प-

यणिं जंभाणिं थम्भाणिं लेसणिं आमय-करणिं पक्कमाणिं अन्तद्धाणिं आयमिणिं, एव माइयाओ विज्जाओ अन्नस्स हेउं पउंजंति, पाणस्स हेउं पउंजंति, वत्थस्स हेउं पउंजंति, लेणस्स हेउं पउंजंति, सयणस्स हेउं पउंजंति, अन्नेसिंवा विरूव-रूवाणं काम-भोगाणं हेउं पउंजंति, तिरिच्छं ते विज्जं सेवेंति, ते अणारिया विप्पडिवन्ना काल-मासे कालं किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किब्बिसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति। तओ वि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयताए तम अन्धयाए पच्चायंति ॥ १५ ॥

अब मैं पुरुषोंको जीत लेनेवाले विकल्पों का कथन करूंगा।

संसार मे विभिन्न प्रकार की बुद्धि, इच्छा, विविध आचरण, विश्वास. रुचि, कर्म और अध्यवसायवाले व्यक्ति नाना प्रकार के पाप-शास्त्रों का अध्ययन करते हैं—जैसे कि भौम=भूमि–सम्बन्धी विद्या, उत्पात=उपद्रव आदि को और उनके फलों को बतानेवाली विद्या, स्वप्न शास्त्र, अन्तरिक्ष= खगोल और आकाश मे घटनेवाली घटना सम्बन्धी विद्या, अङ्ग-शास्त्र, स्वर-शास्त्र, लक्षण (सामुद्रिक) शास्त्र, व्यञ्जन= शरीर में होनेवाले तिल-मस आदिका फल बतानेवाली विद्या, स्त्री, पुरुष, घोड़ा, हाथी, गाय-बैल, मेंढा. मुर्गा, तित्तर, बटेर, लावक आदि के लक्षण बतानेवाली विद्या; चक्र, छत्र, चर्म, दण्ड, तलवार, मणि, रत्न या कौड़ी आदि के लक्षण बताने

माहणाण वा छत्तगं वा दंडगं वा जाव चम्म-छेदणगं वा सयमेव अवहरइ जाव समणुजाणइ । इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवइ ।

कोई कोई व्यक्ति कारण नहीं होने पर भी गाथापति या गाथापति के पुत्र के धान्यादि को स्वयं जलाते हैं, दूसरे से जल-वाते हैं और जलाने वाले को भला समझते हैं...या उनके ऊँट गाय आदि पशुओं के अंग-भंग करते हैं, कराते हैं . या उनकी ऊँटशाला, गौशाला; अस्तबल आदि को कांटों से ढँककर, स्वयं आग लगाते हैं, दूसरों से लगवाते हैं...या श्रमण ब्राह्मण के छत्र, दण्ड, पात्र, वस्त्र, चर्म आदि स्वयं छीन लेते हैं, दूसरों से छिनवाते हैं और छीनने वाले व्यक्ति को भला समझते हैं। वे अपने को पाप कर्मों से यशस्वी बनाते हैं ।

से एगइओ समणं वा माहणं वा दिस्सा नाणाविहेहिं पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ अदुवा णं अच्छराए आफालित्ता भवइ अदुवा णं फरुसं वदित्ता भवइ । कालेण वि से अणुपविट्ठस्स असणं वा पाणं वा जाव नो दवावेत्ता भवइ । 'जे इमे भवन्ति वोणमन्ता भारक्कंता अलसगा वसलगा किवणगा समणगा [निउज्जमा वणगा] पव्वयंति, ते इणमेव जीवितं धिज्जीवितं'— संपडिबूहेंति ।

कई व्यक्ति श्रमण या ब्राह्मण को देखकर, नाना प्रकार के पाप कर्मों द्वारा (उन्हें दुःख देकर) अपने को यशस्वी बनाते हैं। वे चुटकी बजाकर, उन्हें दुतकारते हैं या कठोर वचन

सुनाते हैं। वे योग्य समय में भी आये हुए साधु को आहार पानी नहीं देते हैं। परन्तु उन्हें यह कहते हैं कि—'श्रम से जी चुराने वाले, कुटुम्ब आदि का बोझ वहन करने में असमर्थ, आलसी, नीच जाति वाले और दरिद्र होते हैं, तो श्रमण बन जाते हैं तथा कोई उद्यम हुन्नर हाथ में न होने से वनवासी बन जाते हैं। वे इस प्रकार जीते हैं, उनके जीने को धिक्कार है।

नाइ ते परलोगस्स अट्ठाए किंचि वि सिलीसंति। ते दुक्खंति ते सोयंति ते जूरंति ते तिप्पंति ते पिट्टन्ति ते परितप्पंति. ते दुक्खण जूरण-सोयण-तिप्पण-वह-बंधण-परि-किलेसाओ अप्पडि-विरया भवंति। ते महया आरम्भेणं ते महया समारंभेणं ते महया आरंभ-समारंभेणं विरूवरूवेहिं पावकम्म-किच्चेहिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोग भोगाइं भुंजि-त्तारो भवंति। तं जहा-अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले, स-पुव्वावरं च णं ण्हाए कयबलिकम्मे, कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ते, सिरसा ण्हाए कंठे मालाकडे, आविद्ध-मणिसुवण्णे, कप्पिय-माला-मउली, पडिबद्ध-सरीरे, वग्घारिय-सोणि-सुत्तग-मल्ल-दाम-कलावे, अहत्त-वत्थ-परिहिए, चंदणोक्खित्त-गाय-सरीरे, महइ-महालियाए कूडागार-सालाए, महइ-महालयंसि सीहासणंसि, इत्थी-गुम्म-संपरिवुडे सव्व-राइएणं जोइणा झियाय-माणेणं महयाहय-नट्ट-गीय-वाइय-तन्ती-तल-ताल-तुडिय-घण--मुइंग-पडुपवाइय-रवेणं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे

विहरइ ।

वे परलोक के लिये कुछ भी चिन्ता नहीं करते हैं। वे स्वयं दुःखित, शोक-मग्न, आर्त, चिन्तित, पीड़ित और परितप्त होते हैं और दूसरों को भी करते हैं तथा वे वध, बंधन और क्लेश के भावों से मुक्त नहीं होते हैं। वे महा-आरम्भ और महा समारम्भ से अनेक पाप-कृत्यों के द्वारा मनुष्यों के स्थूल या उत्तम भोग भोगते हैं। उन्हें यथा समय खान-पान, पहनना-ओढ़ना, ठहरना-सोना आदि क्रमशः मिलने चाहिये। वे स्नान, वलि कर्म, कौतुक, मंगल, प्रायश्चित, शिरः-स्नान करके, गले में माला पहनकर, सोना-मणियों से सजकर, लड़ियों से युक्त मुकुट पहनकर, अपने हृष्ट-पुष्ट शरीर पर कटिसूत्र=मेखला, कन्दोरा या कमरबन्द धारण कर, फूल मालाओं से लदकर, कडकबन्द या कलपवाले वस्त्रों से सज्जित, चन्दन के लेप से युक्त अंगवाले, महान् कूटागार में सिंहासन पर बैठकर स्त्रियों से घिरे हुए सारी रात आलोक—ज्योति से जगमाने वाले स्थान में नाच, गान और वीणा आदि को चतुरता से बजाने से होने वाली मधुर आवाजों में उत्तम मानवीय काम-भोग भोगते हैं।

तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच जणा आवुत्ता चेव अब्भुट्ठंति—'भणह देवाणुप्पिया! किं करेमो? किं आहरेमो? किं उवणेमो? किं आचिट्ठामो? किं भे हियं इच्छियं? किं भे आसगस्स सयइ?'

ऐसे व्यक्ति एक को हुक्म देते हैं तो चार पांच व्यक्ति यह कहते हुए उपस्थित होते हैं—'हे देवों के प्रिय ? कहिये क्या करें ? क्या सेवा करें ? क्या लाएं ? क्या आपके पास ठहरें ? किस उत्तम वस्तु की आपको इच्छा है ? आपको कौनसा स्वाद्य रुचिकर है ?'

तमेव पासित्ता अणारिया एवं वयंति--'देवे खलु अयं पुरिसे। देव सिणाए खलु अयं पुरिसे। देव-जीवणिज्जे खलु अयं पुरिसे। अन्ने वि य णं उवजीवंति।' तमेव पासित्ता आरिया वयन्ति—'अभिक्कन्त-कूरकम्मे खलु अयं पुरिसे। अइधुए अइयाय-रक्खे दाहिण-गामिए नेरइए कण्ह पक्खिए आगामिस्साणं दुल्लह बोहियाए यावि भविस्सइ।'

ऐसे पुरुष को देखकर, अनार्य कहते हैं—'यह व्यक्ति देव, दैवी पूजा से युक्त और दैवी जीवन जीने वाला है। इसके सहारे दूसरे भी जीते हैं।' परन्तु उसे देखकर, आर्य कहते हैं—'यह व्यक्ति क्रूर कर्मों से पूरा ढँक गया है। यह धूर्त या निर्गुणी, पापकर्मों से अपनी रक्षा करने वाला, उन्मार्गगामी या दक्षिण दिशा में जाने वाला नर्क गामी और कृष्णपक्षी=सच्चे विश्वास को एक बार भी स्पर्श नहीं करने वाला है और भविष्य में दुर्लभबोधि=जिसको सच्चा विश्वास और तदनुसार क्रिया शक्ति की प्राप्ति दुर्लभ हो, ऐसा भी हो सकता है।

इच्चेयस्स ठाणस्स उट्ठिया वेगे अभिअभिगिज्झंति अणुट्ठिया वेगे अभिगिज्झंति अभिझंझाउरा वेगे अभिगि-

आरंभट्ठाणे एस ठाणे आरिए जाव सव्व-दुक्ख-पहीण-मग्गे एगंतसम्मे साहू ॥२४॥

जो सम्पूर्ण अव्रती हैं, वे बाल हैं। यह स्थान हिंसा का है, दुःखमय है, एकान्त मिथ्या और बुरा है। जो सम्पूर्ण व्रती हैं वे पंडित हैं। यह स्थान अहिंसा का है, सुख-प्राप्ति का मार्ग है, एकान्त सम्यक् और श्रेष्ठ है। जो सम्पूर्ण व्रती भी नहीं हैं और अव्रती भी नहीं है, वे बाल पंडित हैं। यह स्थान हिंसा-अहिंसा मय है। परन्तु एकान्त सम्यक् होने से आर्य, सुख-प्राप्ति का मार्ग और श्रेष्ठ है।

एवमेव समणुगम्ममाणा इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समोअरंति, तं जहा-धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसन्ते चेव अणुवसते चेव, तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्म-पक्खस्स विभंगे एवमाहिए, तत्थ णं इमाइं तिन्नि तेवट्ठाइं पावादुय-सयाइं भवंतीति मक्खायाइं, तं जहा-किरियावाईणं अकिरियावाईणं अन्नाणियवाईणं वेणइयवाईणं तेऽवि परिनिव्वाणमाहंसु तेवि (परि-) मोक्खमाहंसु तेवि लवंति सावगा ते वि लवंति सावइत्तारो ॥ २५ ॥

इसप्रकार विचार करते सभी विचारधाराएँ दो विभागों में बट जाती है—धर्म और अधर्म, शान्त और अशान्त। पहले अधर्म विभाग में तीन सौ त्रेसठ मतवाद चार वर्गों के आश्रय से समावेश हो जाते हैं वे चार वर्ग ये हैं—क्रियावाद अक्रियावाद, अज्ञानवाद, और विनयवाद। वे भी परिनिर्वाण

और मोक्ष का उपदेश अपने-अपने मत-श्रोताओं को देते हैं।

ते सव्वे पावाउया आदिकरा धम्माणं, णाणापन्ना णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाज्झवसाणसंजुत्ता एगं महं मंडलिबन्धं किच्चा सव्वे एगओ चिट्ठंति।

पुरिसे य सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएणं गहाय ते सव्वे पावाउए आइगरे धम्माणं णाणापन्ने जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी-हंभो पावाउया! आइगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता? इमं ताव तुब्भे सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं गहाय मुहुत्तयं मुहुत्तयं पाणिणा धरेह, णो बहु अग्गिथंभणियं कुज्जा, णो बहु-साहम्मिय-वेयावडियं कुज्जा, णो बहु-पर-धम्मिय-वेयावडियं कुज्जा, उज्जुया णियाग-पडिवन्ना अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह—इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुया तं सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएणं गहाय पाणिसु णिसिरति; तए णं ते पावादुया आइगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाण-संजुत्ता पाणिं पडिसाहरंति। तएणं से पुरिसे ते सव्वे पावाउए आइगरे धम्माणं जाव णाणाज्झवसाण-संजुत्ते एवं वयासी--'हंभो पावादुया! आइगरा धम्माणं णाणापन्ना जाव णाणाज्झवसाण-संजुत्ता? कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह? पाणिं णो डहिज्जा; दड्ढे किं भविस्सह,

तिरिक्खजोणियाणं; तं जहा-अहीणं अयगराणं आसालियाणं महोरगाणं; तेसिं च णं अहावीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स जाव एत्थणं मेहुणे एवं तं चेव, नाणत्तं अंडं वेगइया जणयन्ति, पोयं वेगइया जणयन्ति। से अण्डे उब्भिज्जमाणे इत्थि वेगइया जणयंति पुरिसंपि णपुंसगंपि । ते जीवा डहरा समाणा वायकाय-माहारेंति। आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरपाणे ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं । अवरेवि य णं तेसिं णाणाविहाणं उरपरिसप्प-थल-यर-पंचिन्दिय-तिरिक्ख अहीणं जाव महोरगाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जाव मक्खायं ।

पेट से जमीन पर चलनेवाले थलचर तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय सर्प, अजगर, आशालिक, महोरग आदि प्राणियों में से.......कोई अण्डे से जन्म लेते हैं तो कोई पोत रूप से। वे बचपन मे वायु खाते हैं।........शेष पूर्ववत्।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं भुयपरिसप्प-थलयर-पंचिन्दिय-तिरिक्खजोणियाणं, तं जहा-गोहाणं नउलाणं सिहाणं सरडाणं सल्लाणं सरवाणं घरकोइलियाणं विस्संभराणं मुसगाणं मंगुसाणं पइलाइयाणं बिरालियाणं जोहाणं चउप्पाइयाणं । तेसिं च णं अहावीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियव्वं जाव सारूवियकड सन्तं। अवरेवि य णं तेसिं णाणाविहाणं भुयपरिसप्प-पंचिन्दिय-थयलर-तिरक्खाणं तं. गोहाणं जाव मक्खायं।

भुजा से जमीन पर चलने वाले तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय जैसे–गोह, नेवला, गिलहरी, करकेण्डा, सल्ल सरव, खर, घरकोइल, विस्संभर, (संभवतः छिपकली) चूहा, मंगुस, पइलाइ, विरालिय, जोह और चउप्पाई आदि के विषय में....
...........उरपरिसृप (पेट से चलनेवाली) प्राणी के समान समझना...................

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं खहचर-पंचिन्दिय तिरिक्खजोणियाणं; तं जहा-चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं विततपक्खीणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहा–वगासेणं इत्थीए जहा उरपरिसप्पाणं; नाणत्तं ते जाव डहरा समाणा माउगात्त-सिणेह–माहारेंति । आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे ते जीवा आहारेंति पुढवि-सरीरं जाव संतं । अवरेवि य णं तेसिं णाणाविहाणं खहचर –पञ्चिन्दिय--तिरिक्ख--जोणियाणं चम्मपक्खीणं जाव मक्खायं ॥१६॥

[उसी प्रकार] चर्ममय पाँखवाले (चमगीदड़ आदि), रोममय पाँखवाले (सारस, कबूतर, तोते आदि), डिब्बे जैसी बंद पाँखवाले और विस्तृत पाँखवाले खेचर तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय के विषय में भी उरपरिसृप के समान समझना.... (मात्र इतनी विशेषता है कि) वे बचपन में माता के गात्र के स्नेह का आहार करते हैं .. ...

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजो–

णिया णाणाविह-संभवा णाणाविह-वुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्म-णियाणेणं तत्थ-वुक्कमा णाणाविहाण तस-थावराणं पोग्गलाणं सरीरेसु वा सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अणुसूयत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तस थावराणं पाणाणं सिणेह-माहारेंति। ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सन्त। अवरे वि य णं तेसिं तस-थावर-जोणियाणं अणुसूयगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं एवं दुरूव-संभवत्ताए। एवं खुरदुगत्ताए।१७।

कई जीव अपने कर्म के अनुसार विविध प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के सजीव या निर्जीव शरीर के आश्रित होकर (जू, खटमल, कृमि आदि) उत्पन्न होते हैं और उन्हीं प्राणियों के स्नेह (रस) को व पृथिवी के शरीर आदि को खाते हैं।.......इसी तरह मल-मूत्र आदि में और प्राणी की चमड़ी पर कई जीव कर्मवश पैदा होते हैं।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविह-जोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा तं सरीरगं वायससिद्धं वा वायसंगहियं वा वायपरिग्गहियं उड्ढवाएसु उड्ढभागी भवन्ति; अहेवाएसु अहेभागी, भवई तिरियवाएसु तिरियभागी भवन्ति। तं जहा—ओसा हिमए महिया करए हरतणुए सुद्धोदए। ते जीवा तेसिं णाणावि-

हाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेह माहारेंति । ते जीवा आहारेंति पुढवि सरीरं जाव सन्तं । अवरे वि य णं तेसिं तस-थावर-जोणियाणं ओसाणं जाव सुद्धोदगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ।

कई जीव अपने कर्म के अनुसार विविध प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के सजीव या निर्जीव शरीर में वायु से उत्पन्न होनेवाले, वायु से संग्रहित और वायु से संचालित, वायु के ऊँचे जाने पर ऊँचे जाने वाले, वायु के नीचे जाने पर नीचे जाने वाले और वायु के तिरछे जाने पर तिरछे जानेवाले ओस हिम, महिका (संभवत: धूंवर), करक, हरतनु, और शुद्ध जल रूप से उत्पन्न होते हैं । वे जीव उनके ही स्नेह (रस) का और पृथ्वी शरीर आदि का आहार करते हैं ।.......

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदग उदगजोणिया उदगसम्भवा जाव कम्म-णियाणेणं तत्थवुक्कमा तसथावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति । ते जीवा तस थावर-जोणियाणं उदगाणं सिणेह-माहारेंति । ते जीवा आहारेंति पुढवि-सरीरं जाव सन्तं । अवरे वि य णं तेसिं तसथावर-जोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ।

कई उदक योनि वाले जीव त्रस-स्थावर-योनीय जल में जल रूप से उत्पन्न होते हैं और उसके स्नेह (रस) का तथा पृथ्वी शरीर आदिका आहार करते हैं ।.......

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदग-जोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टन्ति। ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेह-माहारेंति। ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सन्तं। अवरेवि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं उदगजोणिएसु उदएसु तसपाणत्ताए विउट्टंति; ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेह-माहारेंति। ते जीवा आहारेंति पुढवि-सरीरं जाव सन्तं। अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥१८॥

कई जलयोनीय जीव उस जलयोनीय जलमें जलरूप से उत्पन्न होते हैं और उसके रसका तथा पृथ्वी के शरीर आदि का आहार करते हैं ... ...

कई जल-योनीय जीव जलयोनीय जल में त्रस प्राणी के रूप में जन्म लेते हैं और उसके रसादि का आहार करते हैं। ... ...

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविह-जोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाण तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसुवा अचित्तेसु वा आग-णिकायत्ताए विउट्टन्ति। ते जीवा तेसिं च णाणाविहाणं

तस थावराणं पाणाणं सिणेह-माहारेंति । ते जीवा आहारेंति पुढवि-सरीरं जाव संतं । अवरे वि य णं तेसिं तसथावर जोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं । सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविह-जोणियाणं जाव कम्म-णियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा वाउक्कायत्ताए विउट्टंति । जहा अगणीणं तहा भाणियव्वा चत्तारि गमा ॥१९॥

कई विविध योनीय जीव त्रसस्थावर प्राणियों के सचित्त या अचित्त शरीर में अग्निरूप से उत्पन्न होते हैं और उनके रस आदि का आहार करते हैं ।...शेष तीन आलापक उदक के समान अग्नि के भी समझना चाहिए और इसीप्रकार चारों आलापक वायुकाया के भी समझना ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविह-जोणिया जाव कम्म-नियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा पुढवित्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए इमाओ गाहाओ अणुगन्तव्वाओ—

पुढवी य सक्करा, वालुया य उवले सिलाय लोणूसे ।
अय-तउय-तंब-सीसग, रुप्प-सुवण्णे य वइरे य ॥१॥
हरियाले हिंगुलए, मणोसिला सासगंजण-पवाले ।
अब्भपडल-ब्भवालुया, वायरकाए मणिविहाणा ॥२॥

गोमेज्जए य रुयए, अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
मरगय-मसारगल्ले, भुयमोयग-इन्दणीले य ॥३॥
चन्दण-गेरुय-हंसगब्भ-पुलए सोगंधिए य बोद्धव्वे।
चन्दप्पभ-वेरुलिए, जलकन्ते सूरकन्ते य ॥४॥

एयाओ एएसु भाणियव्वाओ गाहाओ जाव सूर-कन्तत्ताए विउट्टंति। ते जीवा तेसिं च णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सिणेह माहारेंति। ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं। अवरे वि य णं तेसिं तसथावर-जोणियाणं पुढवीणं जाव सूरकन्ताणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं। सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं।

कई विविध योनीय जीव त्रस-स्थावर प्राणियों के सचित्त या अचित्त शरीर में पृथ्वीकाय-रूप से जन्म लेते हैं-उनके भेद निम्न गाथाओं में कहे जाते हैं—

मट्टी, कंकर रेत, पत्थर, शिला नमक,
लोहा, राँगा, ताम्बा, सीसा, रूपा, सोना, और हीरे ॥ १ ॥
हरिताल, हिंगलू, मनःशिल, पारा, अन्जन, प्रवाल;
अभ्रके पटल, अभ्रकी रेत, और मणियों के भेद ॥ २ ॥
गोमेद्य, रुचक, अक, स्फटिक, लोहिताक्ष;
मरकत, मसारगल्ल, भुजमोचक, इन्द्रनील ॥ ३ ॥
चन्दन, गेरुक, हंसगर्भ, पुलक, सौगंधिक;
चन्द्रप्रभ, वैदुर्य्य, जलकान्त, और सूर्यकान्त ॥ ४ ॥

इस रूप से उत्पन्न होकर, उनके रस आदि का

आहार करते हैं।.........शेप तीन आलापक अपकाया के समान।

अहावरं पुरक्खायं सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा सरीर जोणिया सरीरसंभवा सरीरवुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्म-नियाणा कम्म-गतिया कम्म-ठिइया कम्मणा चेव विप्परियास-मुवेंति।

से एव-मायाणह से एव-मायाणित्ता आहारगुत्ते सहिए समिए सया जए त्ति बेमि ॥२१॥

इस प्रकार विविध योनि, स्थिति और वृद्धिवाले जीव विविध शरीरों में उत्पन्न, स्थित और बढ़ते हुए, उन शरीरों का ही आहार करके, कर्मों को बान्धकर, कर्मवश होकर, अपने कर्म के अनुसार गति, स्थिति और परिवर्तन को प्राप्त होते रहते हैं।

इसप्रकार [आहार के विषय में उपार्जित इतने सारे कर्मबन्धन को] समझो और यह समझकर, आहारगुप्त, कल्याण मे सदा तत्पर और व्यवहार-कुशल होकर, सदा यत्न-पूर्वक रहो। ऐसा मैं कहता हूँ—

तीसरा अध्ययन समाप्त



चौथा अध्ययन

(प्रत्याख्यान क्रिया)

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु पच्चक्खाण-किरिया-णामज्झयणे तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते—

"आया अपच्चक्खाणीयावि भवति, आया अकिरिया-कुसले यावि भवति, आया मिच्छासंठिए यावि भवति, आया एगंतदण्डे यावि भवति, आया एगंतबाले यावि भवति, आया एगंतसुत्ते यावि भवति, आया अवियार-मण -वयण काय-वक्के यावि भवति, आया अप्पडिहय-अप्पच्च-क्खाय-पावकम्मे यावि भवति, एस खलु भगवता अक्खाए असंजते अविरते अप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदण्डे एगंतबाले एगंतसुत्ते से बाले अवियार-मण-वयण-काय-वक्के सुविणमवि ण पस्सति, पावे य से कम्मे कज्जई ॥१॥

[सुधर्मस्वामी —] आयुष्मान् ! मैंने इस प्रत्याख्यान क्रिया' नामक अध्ययन का आशय भगवान् से इसप्रकार सुना है —

आत्मा अप्रत्याख्यानी, अकर्त्तव्यकुशल, मिथ्याविश्वास-वाला, दूसरे को कष्ट पहुँचाने वाली क्रिया को सदैव करने

वाला, पूर्णतः अज्ञानी, सोया हुआ या मूढ़, अविचार पूर्वक मन, वचन और काया से वक्र और पापकर्म में किसी भी प्रकार की रुकावट से रहित वेगवाला भी होता है। भगवान् ने कहा है कि--ऐसे असंयमी, अव्रती, पापकर्म करने में किसी भी रुकावट से रहित सक्रिय, असंवृत्त, एकान्त सावद्य प्रवृत्ति वाले एकान्त बाल और एकान्त सुप्त जीव, विचार से रहित मन, वचन और काया से वक्र और स्वप्न जितनी चेतनावाले भी नहीं हैं, फिर भी वे जो कर्म करते हैं, उसका उन्हें पाप लगता है।

तत्थ चोयए पन्नवगं एवं वयासी—असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वतीए पावियाए, असंतएणं काएणं पावएणं अहणन्तस्स अमणक्खस्स, अवियारमण-वयण-काय-वक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावकम्मे णो कज्जइ।" 'कस्स णं तं हेउं ?' चोयए एवं ब्रवीति—'अन्नयरेणं मणेणं पावएणं मणवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरीए वतीए पावियाए वति-वत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरेणं काएणं पावएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, हणन्तस्स, समण-क्खस्स, सवियार-मण-वयण कायवक्कस्स सुविणमवि पासओ एवंगुण जातीयस्स पावे कम्मे कज्जइ।' पुणरवि चोयए एवं ब्रवीति तत्थ णं जे ते एवमाहंसु—'असंतएणं मणेणं पावएणं असंतीयाए वतिए पावियाए, असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियार-मण वयण–

कायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ। तत्थ णं जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु।'

प्रवादी आचार्य के उपर्युक्त कथन से प्रेरित होकर बोला—जिसके मन, वचन और काया पाप करने में लगे हुए न हो, जो हिंसा न करता हो, जिसके मन न हो, या जिसके मन, वचन और काया की वक्रता अविचार पूर्वक होती हो या जो स्वप्न-दर्शक जितनी भी चेतनावाला हो वह पाप-कर्म का बंधन नहीं करता है।' आचार्य ने पूछा—'इसका क्या कारण है ?' प्रवादी बोला—'जिसके मन, वचन और काया पापमय हो उसे ही मन, वचन और काया-जनित पापकर्मों का वन्ध होता है। जो हिंसक है, मनवाला है, और विचारपूर्वक मन, वचन और काया से वक्र होता है या वह स्वप्न-दर्शक जितनी चेतना वाला ही हो, ऐसे गुणवाले व्यक्तियों से ही पाप कर्म का सञ्चय होता है।' (तो इससे क्या हुआ ?) आचार्य के द्वारा इसप्रकार पुनः प्रेरित होकर बोला—'इसलिये जो यह कहते हैं कि—जिसके मन, वचन और काया पाप करने में लगे हुए नहीं है, जो हिंसा नहीं करता है, जिसके मन भी नही है और जो अविचार पूर्वक मन, वचन और काया से वक्र होते हैं (अशुभ क्रिया करते हैं) या स्वप्न जितनी भी जिसमें चेतना नहीं है, वे पाप-कर्म करते हैं'—ऐसा कहने वाले व्यक्ति झूठ बोलते हैं।'

तत्थ पन्नवए चोयगं एवं वयासी—'तं सम्मं जं

मए पुव्वं वुत्तं–असंतएणं मणेणं पावएणं, असंतियाए वतिए पावियाए, असंतएणं काएणं पावएणं, अहणंतस्स अमण–क्खस्स अवियार-मण-वयण-काय-वक्कस्स, सुविणमवि अ–पस्साओ पावे कम्मे कज्जाति, तं सम्मं ।' कस्स णं तं हेउं ?' आयरिय आह—'तत्थ खलु भगवया छजीवणिकाय-हेऊ पण्णत्ता, तं जहा--पुढविकाइया जाव तसकाइया, इच्चेएहिं छहिं जीव-णिकाएहिं आया अपडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे निच्चं पसढ-विउवात-चित्तदण्डे, तं जहा–पाणातिवाए जाव परिग्गहे कोहे जाव मिच्छा-दंसणासल्ले ।

तब आचार्य प्रवादी से बोले—'पर मैंने जो पहले कहा है वही ठीक है......

वादीने पूछा—'उसका कोई कारण है ?'

आचार्य बोले—'भगवान ने पृथ्वीकाय आदि जीवों के छह वर्ग कहे हैं । जो जीव इनमें पापकर्म करने की किसी भी रुकावट से रहित हैं या जो इच्छापूर्वक पाप कर्म का त्याग नहीं करते हैं, उनकी चित्तवृत्ति सदा प्राणातिपात से लगाकर परिग्रह तक और क्रोध से लगाकर मिथ्यादर्शनशल्य तकके पाप स्थानकों की ओर मूढता [मुग्धता] से मुड़ी रहती है ।'

आयरिय आह–तत्थ खलु भगवया वहए दिट्ठन्ते पण्णत्ते । से जहानामए-वहए सिया गाहावइस्स वा गाहा-वइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपरिसस्स वा खणं निदाय पविसिस्सामि, खणं लद्धूणं वहिस्सामि-सम्हारेमाणे, से किं

तु हु नाम से वहए तस्स गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं निद्दाय पविसिस्सामि, खणं लद्धूणं वहिस्सामि, पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढ -विउवाय-चित्तदण्डे ? एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे चोयए-हन्ता भवति।

आचार्य बोले—भगवान् ने इस विषय में वधक का दृष्टान्त कहा है। जैसे कोई पुरुष किसी कारण से वध करने वाला होकर—व्यवसायी, उनके पुत्र, राजा या राजपुरुष के घर में अवसर पाकर घुस जाऊँगा—उन्हें मार डालूँगा--इस प्रकर विचार करता रहता है। तो क्या वह दिन में या रात में, सोते हुए या जागते हुए, उनका अमित्र, उनके प्रति मिथ्या व्यवहार वाला और मूढ हिंसक चित्तवृत्ति वाला नहीं है ? आचार्य के इसप्रकार कहने पर प्रवादीने समता से कहा—हाँ ! वह दोषित है।

आयरिय आह--जहा से वहए तस्स गाहावइस्स वा तस्स गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं निद्दाए पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामि त्ति पहारे-माणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढ-विउवाय-चित्तदण्डे, एवमेव बाले वि सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं

पसढ-विउवाय-चित्त-दण्डे तं जहा-पाणातिवाए जाव मिच्छा-दंसणसल्ले । एवं खलु भगवाय अक्खाए-असंजए अविरए अप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंत-दण्डे एगंतबाले एगंतसुत्ते यावि भवइ, से बाले अवियार-मण-वयण कायवक्के सुविणमवि ण पस्सइ पावे य से कज्जइ । जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्स जाव तस्स वा राय-पुरिसस्स पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए निच्चं पसढ-विउवाय-चित्त-दण्डे भवइ, एवमेव बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा ॥२॥

आचार्य बोले—उस वधक के समान बाल-अज्ञानी जीव भी दिन में या रात में, सोते या जागते हुए सभी प्राणियोंके प्रति अमैत्री भाववाले और मिथ्या व्यवहार वाले होकर, दूषित चित्तवृत्तिवाले रहते हैं-प्राणातिपात से लगाकर मिथ्या-दर्शन शल्य तकके पाप-स्थानकों का सेवन करते रहते हैं । इसीलिये भगवान्ने उन्हें असंयति, अव्रती, पापकर्म करने के प्रत्याख्यान से रहित, सक्रिय, असंवृत्त, एकान्त सावद्य प्रवृत्तिवाले, एकान्त अज्ञानी और एकान्त सुप्त कहे हैं । भले ही उनके मन, वचन और काया की वक्रता विना विचार से होती हो और स्वप्न-दर्शन जितनी भी व्यक्त चेतनावाले न हो, किंतु वे पापकर्म करते हैं । जिसप्रकार वधक व्यवसायी आदि

किन्तु उसके विषय में यही कहा जायगा कि वह पृथ्वी काया से कार्य करता भी है और कराता भी है। इससे वह पृथ्वी-काया के विषय में असंयत, अव्रती और पापकर्म के प्रत्या-ख्यान से रहित होता है। इसीप्रकार शेष पाँच काया के विषय में भी समझना चाहिए। यदि कोई छहों जीवकायों के द्वारा कार्य करता और कराता है तो वह यही कहेगा कि मैं छहों जीवकायों के द्वारा करता और कराता हूँ। इसलिये उसके विषय में यह नहीं कह सकते कि वह अमुक २ जीवों के द्वारा ही कार्य करता और कराता है, किन्तु यही कहा जायगा कि वह छहों जीवनिकायों द्वारा कार्य करता भी है कराता भी है। इसलिए छहों जीवनिकायों के विषय में असंयत, अविरत और पाप के प्रत्याख्यान से रहित है।....यही संज्ञी दृष्टान्त है।

से किं तं असन्निदिट्ठन्ते? जे इमे असन्निणो पाणा, तं जहा–पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया छट्ठा वेगइया तसा पाणा, जेसिं नो तक्का ति वा सन्ना ति वा पन्ना ति वा मणा ति वा वई ति वा सयं वा करणाए, अन्नेहिं वा कारवेत्तए, करन्तं वा समणुजाणित्तए, ते वि णं बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूता मिच्छासंठिया निच्चं पसढ-विउवात चित्त-दण्डा, तं जहा–पाणाइवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले। इच्चेव जाव णो चेव मणो णो चेव वई पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जूरणयाए तिप्पणयाए पिट्टणयाए

परितप्पणयाए; ते दुक्खण-सोयण जाव परितप्पण-वह-बंधण परिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवन्ति । इति खलु ते असन्निणो वि सत्ता अहोनिसिं पाणातिवाए उवक्खाइज्जंति जाव अहोनिसिं परिग्गहे उवक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसण-सल्ले उवक्खाइज्जंति (एवं भूयवाइ)। सव्व जोणियावि खलु सत्ता सन्निणो हुच्चा असन्निणो होंति, असन्निणो हुच्चा सन्निणो होंति, होच्चा सन्नी अदुवा असन्नी. तत्थ से अविविंचित्ता अविधूणित्ता असंमुच्छित्ता अणणुतावित्ता असन्निकायाओ वा सन्निकाए संकमंति, सन्निकायाओ वा असन्निकायं संकमंति, सन्निकायाओ वा सन्निकायं संकमन्ति असन्निकायाओ वा असन्निकायं संकमन्ति । जे एए सन्नि वा असन्नि वा सव्वे ते मिच्छायारा निच्चं पसढ विउवाय-चित्तदण्डा, तं जहा-पाणातिवाए जाव मिच्छा-दंसणसल्ले एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगन्तदण्डे एगन्तबाले एगन्तसुत्ते, से बाले अवियार-मण वयण-काय-वक्के सुविणमवि न पासइ, पावे य से कम्मे कज्जइ ।४।

प्रश्न्न :—वह असंज्ञी दृष्टान्त कौनसा है? आचार्य बोले —पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के असंज्ञी जीवों में और कई त्रस-जंगम असंज्ञी जीवों में, करने, कराने और करते हुए का अनुमोदन करने के लिए, न तर्क शक्ति है, न संज्ञा (जानकर चलना) शक्ति है, न प्रज्ञा (बुद्धि) है, न

दुःख होता है, वैसे ही सभी प्राणियों को दुःख का अनुभव होता है, इसलिये किसी प्राणी की घात न करना चाहिए-उन्हें कष्ट न पहुँचाना चाहिए-यही धर्म ध्रुव, नित्य, शाश्वत है जो खेदज्ञों या क्षेत्रज्ञों के द्वारा लोकको देखकर कहा गया है-वह जीव भिक्षु बन जाय-प्राणातिपात आदि से निवृत्त हो जाय। वह भिक्षु होकर दंतप्रक्षालन से दाँत साफ न करे और न अञ्जन, वमन और धूपन ही करे। वह भिक्षु अक्रिय अहिंसक, अक्रोधी यावत् अलोभी, उपशान्त और परिनिर्वृत्त होकर रहे। भगवानने ऐसे संयमी को संयत, विरत, पापकर्म को इच्छापूर्वक नहीं करनेवाला, अक्रिय, संवृत्त और एकान्त पण्डित कहा है। ऐसा मैं कहता हूँ।

—ॐ चौथा अध्ययन समाप्त ॐ—



पांचवां अध्ययन

(आचार श्रुत=आचरण का ज्ञान)

आदाय बम्भचेरं च, आसुपन्ने इमं वइं।
अस्सिं धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइ वि ।१।

ब्रह्मचर्य को ग्रहण करके, इस धर्म (निर्वाणमार्ग)

से भिन्न कुशल पुरुषोंसे रहित जो धर्म उसे कभी धारण
और अनाचार का सेवन कदापि न करे ।

अणादीयं परिन्नाय, अणवदग्गे ति वा पुणो ।
सासयमसासए वा, इति दिट्ठिं न धारए ॥२॥

वस्तुओं को अनादि और अनन्त जानकर, ये शाश्वत ही हैं या अशाश्वत ही हैं — ऐसी एकान्त दृष्टि नहीं रखना चाहिए ।

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥३॥

इन दोनों एकान्त पक्षों से लोक का व्यवहार निर्वाह नहीं हो सकता है । इसलिये इन दोनों पक्षों से अनाचार की प्रवृत्ति होती है—यह मानना चाहिए ।

समुच्छिज्जिहिंति सत्थारो, सव्वे पाणा अणेलिसा ।
गंठिगा वा भविस्संति, सासयंति व णो वए ॥४॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥५॥

तीर्थङ्कर भविष्य में न होंगे और सभी जीव विसदृश भावो युक्त ही रहेंगे या ग्रंथिक सदा होंगे ही और सभी अल्प और मुक्त हो जायेंगे ऐसे एकान्त वचन नहीं कहना चाहिए । क्योंकि इनसे व्यवहार निभाया नहीं जा सकता है—अनाचार की प्रवृत्ति होती है, यह मान लेना चाहिए ।

जे केइ खुद्दगा पाणा, अदुवा सन्ति महालया।
सरिसं तेहिं वेरं ति, असरिसं ति य णो वए।६।

छोटे अथवा बड़े प्राणियों की हिंसा से समान वैर ही होता है या समान वैर हो ही नहीं सकता--ऐसा नहीं कहना चाहिए।

"एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायरं तु जाणए।७॥

क्योंकि इससे व्यवहार का निषेध होता है और अनाचार का विधान होता है।

अहाकम्माणि भुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा।
उवलित्ते ति जाणिज्जा, अणुवालित्ते ति वा पुणो।८।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए॥९॥

अपने लिये बनाये गये आहार को जो साधु खाते हैं, वे अवश्य ही कर्म से लिप्त होते हैं या कर्म से लिप्त होते ही नहीं हैं। क्योंकि इससे व्यवहार का निषेध और अनाचार का विधान होता है।

जमिदं ओरालमाहारं, कम्मगं च तहेव य।
सव्वत्थ वीरियं अत्थि, नत्थि सव्वत्थ वीरियं।१०।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारोणविज्जई।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए॥११॥

जो ये औदारिक, आहारिक और कार्मण आदि शरीर

हैं, इनमें ही सभी प्रवृत्तियों की शक्ति है या इनमें प्रवृत्तियों की शक्ति है ही नहीं--यह नहीं कहना चाहिए। क्योंकि इससे व्यवहार का निषेध और अनाचार का विधान होता है।

णत्थि लोए अलोए वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा, एवं सन्नं निवेसए।१२।

लोक नहीं है या अलोक नहीं है- ऐसा विचार नहीं रखना चाहिए। परन्तु लोक भी है और अलोक भी है--यह विचार रखना चाहिए।

णत्थि जीवा अजीवा वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सन्नं निवेसए।१३।

जीव और अजीव नहीं हैं—यह विचार न रखें, पर जीव और अजीव हैं--यह विचार रखें।

णत्थि धम्मे अधम्मे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि धम्मे अधम्मे वा, एवं सन्नं निवेसए।१४।

यह विचार न रखें कि धर्म और अधर्म नहीं हैं, किंतु यह विचार रखें कि धर्म और अधर्म हैं।

णत्थि बन्धे व मोक्खे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि बन्धे व मोक्खे वा, एवं सन्नं निवेसए १५।

बन्ध और मोक्ष नहीं है-- यह विचार न रखें, किंतु यह विचार रखें कि बन्ध और मोक्ष हैं।

णत्थि पुण्णे व पावे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि पुण्णे व पावे वा, एवं सन्नं निवेसए।१६।

पुण्य और पाप नहीं हैं- यह विचार न रखें, पर यह विचार रखें कि पुण्य और पाप हैं।

णत्थि आसवे संवरे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सन्नं निवेसए।१७।

आश्रव और संवर नहीं हैं-यह विचार न रखें, पर यह विचार रखें कि आश्रव और संवर हैं।

णत्थि वेयणा निज्जरा वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि वेयणा निज्जरा वा, एवं सन्नं निवेसए।१८।

वेदना (अनुभूति) और निर्जरा [कर्मों का क्षय] नहीं हैं, यह विचार न रखें, किन्तु यह विचार रखें कि वेदना और निर्जरा हैं।

णत्थि किरिया अकिरिया वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेसए।१९।

क्रिया और अक्रिया नहीं हैं-यह विचार न रखें, परन्तु यह विचार रखें कि क्रिया और अक्रिया हैं।

णत्थि कोहे व माणे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सन्नं निवेसए।२०।
णत्थि माया व लोभे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि माया व लोभे वा, एवं सन्नं निवेसए।२१।

क्रोध और मान, माया और लोभ नहीं हैं--यह विचार न रखें, परन्तु हैं--यह विचार रखें।

णत्थि पेज्जे व दोसे वा, नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा, एवं सन्नं निवेसए।२२।

प्रेम और द्वेष नहीं हैं--यह विचार नहीं, परन्तु हैं यह विचार रखें।

णत्थि चाउरन्ते संसारे, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि चाउरन्ते संसारे, एवं सन्नं निवेसए।२३।

चार गति रूप संसार नहीं है यह विचार नहीं, परन्तु है यह विचार रखें।

णत्थि देवो व देवी वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि देवो व देवी वा, एवं सन्नं निवेसए।२४।

देव और देवी नहीं हैं--यह विचार नहीं, परन्तु हैं--यह विचार रखें।

णत्थि सिद्धी असिद्धी वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि सिद्धी असिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए।२५।

सिद्धि और असिद्धि नहीं हैं--यह विचार नहीं, परन्तु हैं--यह विचार रखना चाहिए।

णत्थि सिद्धी नियं ठाणं, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि सिद्धी नियं ठाणं, एवं सन्नं निवेसए।२६।

सिद्धि का निज स्थान नहीं है--यह विचार नहीं रखना चाहिए, परन्तु यह विचार रखना चाहिए कि सिद्धि का निज स्थान है।

णत्थि साहू असाहू वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्नं निवेसए ।२७।

साधु और असाधु नहीं हैं—यह विचार नहीं, परन्तु है--यह विचार रखना चाहिए।

णत्थि कल्लाण पावे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि कल्लाण पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ।२८।

कल्याण और पापका नास्तित्त्व नहीं--अस्तित्त्व मानना चाहिए।

कल्लाणे पावए वा वि, ववहारो ण विज्जइ।
जं वेरं तं न जाणंति, समणा बालपण्डिया ॥२९॥

किसे कल्याणवान् ही या पापी ही मानने से भी व्यवहार का निषेध हो जाता है। (इन एकान्त पक्षों से) जो वैर-बन्ध होता है उसे पाण्डित्य के अभिमानी बाल श्रमण नहीं जानते हैं।

असेसं अक्खयं वा वि, सव्व-दुक्खे ति वा पुणो।
वज्झा पाणा न वज्झ त्ति, इति वायं न नीसरे ।३०।

समस्त पदार्थ अक्षय ही हैं या [क्षर होने से] सब दुःखात्मक ही हैं और (दुराचारी) प्राणी वध्य या अवध्य हैं—ऐसी वाणी नहीं बोलना चाहिए।

दीसंति समियायारा, भिक्खुणो साहुजीविणो।
एए मिच्छोवजीवंति, इति दिट्ठिं न धारए ।३१।

जो समित=सयत्न आचार वाले, भिक्षुक और साधु

का जीवन जीने वाले दिखाई देते हैं वे मिथ्या व्यवहारसे जगतको ठग रहे हैं-ऐसी दृष्टि धारण न करे।

दक्खिणाए पडिलम्भो, अत्थि वा णत्थि वा पुणो।
ण वियागरेज्ज मेहावी, सन्तिमग्गं च वूहए ॥३२॥

(संयमी) यह न कहे कि (अमुक के यहाँ से) दान-दक्षिणाकी प्राप्ति होती है या नहीं होती है अथवा यह (एकाग्रही वात) न कहे कि [स्वतीर्थी या परतीर्थी को] दान देने से (पुण्य या पाप की) प्राप्ति होती है या नहीं होती है। परन्तु बुद्धिमान (संयमी ऐसा वचन कहे कि-) शान्तिमार्ग की वृद्धि हो।

इच्चेएहिं ठाणेहिं, जिणदिट्ठेहिं सञ्जए।
धारयन्ते उ अप्पाणं, आमोक्खाए परिवएज्जासि।
। त्ति बेमि । ३३ ॥

संयत व्यक्ति जिनेन्द्र दर्शित इन अभिप्रायों से आत्म दृष्टि को धारण करें और जहाँतक मुक्त न हो जाय वहाँतक इनमें संयमशील रहें। ऐसा मैं कहता हूँ।

पांचवां अध्ययन समाप्त



छठा अध्ययन

(आर्द्रकीय)

गौशालक कहता है—

पुराकडं अद्द ! इमं सुणेह, मेगन्तयारी समणे पुरासी ।
से भिक्खुणो उवणेत्ता अणेगे, आइक्खतिण्हिं पुढो वित्थरेणं ॥

हे आर्द्रक ! यह सुनो कि पहले वह श्रमण महावीर एकान्त में विचरनेवाला तपस्वी था और अब वह अनेक भिक्षुओं को अपने आसपास जमाकर के बड़े विस्तार से धर्म-कथा कहता है ॥१॥

साऽऽजीविया पट्ठवियाऽथिरेणं,
सभागओ गणओ भिक्खुमज्झे ।
आइक्खमाणो बहुजन्नमत्थं, न संधयाती अवरेण पुव्वं ।२।
एगन्तमेवं अदुवा वि इण्हिं, दोऽवण्णमन्नं न समेति जम्हा ।

इसप्रकार उस अस्थिर चित्तवाले महावीरने अपनी आजीविका खड़ी की है कि जिससे वह सभा में जनसमूह और भिक्षुओं के बीच में बैठकर, बहुजन्य=समूह के योग्य आशय को कहता है । उसकी इस अवस्था से पहले की अवस्था मेल नहीं खाती है ।

[यदि एकान्त ही या यह वर्त्तमान अवस्था ही योग्य थी तो उसे पहले से ही] एकान्त अवस्था को ही या वर्तमान

अवस्था को ही (स्वीकार करना चाहिए था) अथवा उसकी उस एकान्तवृत्ति और वर्तमान अवस्था में तीव्र विरोध है। इसलिये वह सम या शान्त अवस्थावाला नहीं है।

आर्द्रकका उत्तर—

पुव्विं च इण्हिं च अणागतं वा, एगन्तमेवं पडिसंधयाति ३
समिच्च लोगं तस थावराणं, खेमङ्करे समणे माहणे वा।
आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे, एगन्तयं सारयती तहच्चे ४

पहले की, अभी की और आगे की अवस्थाओं में एकान्त=साम्य या आत्मभाव ही उनमें रहता है।

क्योंकि लोकको जान-देखकर, त्रस और स्थावर जीवों के क्षेमङ्कर=मङ्गलकारी श्रमण या ब्राह्मण हजारों के मध्य में धर्मकथा करते हुए भी एकान्त वृत्ति साधे रहते हैं या अन्तर्मुखता वनाये रहते हैं–उनकी चित्तवृत्ति पहले जैसी ही (शुक्ल) रहती है अथवा, देह--विभूषा या देहाभिमान से रहित होते हैं।

धम्मं कहंतस्स उ णत्थि दोसो, खंतस्स दंतस्स जिर्तिदियस्स।
भासाय दोसे य विवज्जगस्स, गुणे य भासाय णिसेवगस्स॥

क्षान्त, दान्त, जितेन्द्रिय, भाषा के दोषों को टालने वाले और भाषा के गुणों को सेवन करने वाले पुरुष को धर्म कथा कहने में दोष नहीं लगता है। ५।

महव्वए पञ्च अणुव्वए य, तहेव पञ्चासवसंवरे य।
विरतिं इहस्सामणियंमि पण्णे, लवावसक्की समणे त्ति बेमि॥

वे श्रमण पाँच महाव्रत, पाँच अणुव्रत, पाँच आश्रव=कर्म के प्रवेशद्वार, संवर=कर्मरोधन के उपाय, विरति और श्रामण्य=शम-साधना में बुद्धि रखने की (धर्म देशना देते हैं) और कर्म के लेश से दूर रहते हैं। —मेरा ऐसा कहना है। ६।

गोशालक—

सीओदगं सेवउ बीयकायं, आहायकम्मं तह इत्थियाओ।
एगन्तचारिस्सिह अम्ह धम्मे, तवस्सिणो णाभिसमेति पावं॥

इस मेरे धर्म में एकान्तचारी तपस्वी को शीतल जल और बीजकाय के सेवन में आधाकर्मी आहार खाने में और स्त्री प्रसंग में पाप होना नहीं माना जाता है। ७।

आर्द्रक—

सीओदगं वा तह बीयकायं, आहायकम्मं तह इत्थियाओ।
एयाइ जाणं पडिसेवमाणा, अगारिणो अस्समणा भवन्ति॥

शीतल जल, बीजकाय, आधाकर्मी आहार और स्त्रियों का सेवन करनेवाले गृहस्थ हैं-अश्रमण हैं।

सिया य बीओदगइत्थियाओ, पडिसेवमाणा समणा भवन्तु।
अगारिणो वि समणा भवन्तु, सेवंति ऊ ते वि तहप्पगारं॥

यदि बीज, उदक और स्त्रीका सेवन करनेवाले श्रमण होते हों तो गृहस्थ भी श्रमण हैं, क्योंकि वे भी उन वस्तुओंका सेवन करते हैं। ९।

जे यावि बीओदगभोइ भिक्खू,

भिक्खं विहं जायति जीवियट्ठी ।

ते णाति-सञ्जोगमविप्पहाय, कायोवगा णन्तकरा भवन्ति ॥

जो भिक्षु बीज और सचित्त जल के भोगी हैं उनकी भिक्षावृत्ति जीविका के अर्थ=आशयवाली हो जाती है अथवा जो जीवन रक्षा के लिये भिक्षावृत्ति धारण करते हैं वे काया के पोषक बन्धु-बान्धवों के संसर्ग को छोड़कर भी, कर्मों का अन्त करनेवाले नहीं हो सकते हैं । १० ।

गोशालक—

इमं वयं तु तुमपाउ कुव्वं, पावाइणो गरिहासि सव्व एव ।

पावाइणो पुढो किट्टयन्ता, सयं सयं दिट्ठि करेंति पाउ ।११।

आर्द्रक ! तुम ऐसा कहकर, सभी प्रवादियों की निन्दा करते हो । क्योंकि सभी प्रवादी अलग-अलग बताते हुए, अपनी-अपनी दृष्टि को प्रकट करते हैं । ११ ।

आर्द्रक—

ते अन्नमन्नस्स उ गरहमाणा, अक्खंति भो समणा माहणा य ।

सतो य अत्थी असतो य णत्थि,

गरहामो दिट्ठिं ण गरहामो किंचि ।१२।

वे प्रवादी एक दूसरे की निन्दा करते हुए, अपने पक्ष के स्वीकारने से सिद्धि (आस्तिकता) और पर पक्ष के स्वीकारने से सिद्धि नहीं (नास्तिकता ही) बताते हैं, उनकी उस एकाग्रही दृष्टि की ही मैं निन्दा करता हूँ और किसी

लिए, हिंसादोष को टालते हुए, हिंसा की आशंका से अपने लिये बनाए हुए भोजनका त्याग करते हैं । ४० ।

भूयाभिसङ्काए दुगुंछमाणा, सव्वेसि पाणाण निहाय दण्डं ।
तम्हा ण भुंजन्ति तहप्पगारं, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥

प्राणियों की [अपनी ओर से होनेवाले त्रास की] शंका से घृणा करनेवाले सभी प्राणियों की ओर से अपनी हिंसात्मक प्रवृत्ति को दूर करके, इसी (हिंसा के) कारण से इसप्रकार का भोजन नहीं करते हैं । संसार में यही संयमियों का आचरित धर्म है । ४१ ।

निग्गन्थ-धम्मम्मि इमं समाहिं,
आस्सि सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा ।
बुद्धे मुणी सील-गुणोववेए, अच्चत्थयं पाउणती सिलोगं ॥

इसप्रकार ज्ञानी, शील गुण से युक्त मुनि निर्ग्रन्थ धर्म में पूर्वोक्त समाधि में स्थिर होकर, इच्छा--कामना से रहित रहे तो अत्यन्त उच्च प्रशंसनीय अवस्था को प्राप्त करता है। ४२ ।

वेदवादी—

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए माहणाणं ।
त पुण्णखन्धे सुमहऽज्जणित्ता, भवन्ति देवा इति वेयवाओ ॥

जो दो हजार ब्राह्मण स्नातकों को नित्य भोजन कराते हैं, वह पुण्यकी महान् राशिका सञ्चय करके, देव होते हैं— यह वेद का कहना है । ४३ ।

आर्द्रक—

सिणायगाणं दुवे सहस्ससे, जे भोयए णियए कुलालयाणं।
से गच्छई लोलुवसम्पगाढे, तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी ॥

भोजन पानेकी लालसा से घर--घर बिल्ली की तरह घूमनेवाले दो हजार स्नातकोंको (सत्पात्र समझकर) जो नित्य भोजन कराता है, वह मांस-लोलुप प्राणियों से परिपूर्ण नर्क में जाता है और वहाँ तीव्र अभिताप पाता हुआ, नर्क (अखाद्य) का सेवन करता है । ४४ ।

दयावरं धम्म दुगंछमाणा, वहावहं धम्म पसंसमाणा।
एगं पि जे भोययती असीलं, णिवो णिसं जाइ कुओ सुरेहिं ?

श्रेष्ठ दया धर्म से घृणा करनेवाले और हिंसाधर्म की प्रशंसा करनेवाले नृप या अन्य कोई एक भी दुःशील ब्राह्मण को (सत्पात्र समझकर) भोजन कराता है, तो वह अन्धकार में जाता है, फिर देवत्व की बात कैसी । ४५ ।

एकदण्डी (वेदान्ती)—

दुहओ वि धंमम्मि समुट्ठियामो,
अस्सिं सुठिच्चा तह एसकालं।
आयारसीले वुइएह नाणी, न सम्परायम्मि विसेसमत्थि ॥

हम और तुम दोनों तीनों काल में समान धर्म में स्थित होकर, उसमें उद्यम शील रहने वाले हैं । हमारे मत में आचार शील व्यक्ति को ज्ञानी कहा गया है और संसार-प्रवाह के विषय में भी हममें विशेष मतभेद नहीं है । ४६ ।

क्योंकि इस अपेक्षा से गृहस्थ वर्ग को भी निर्दोष मानना पड़ेगा । ५३ ।

संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणन्ता समणव्वएसु ।
आयाहिए से पुरिसे अणज्जे, ण तारिसे केवलिणो भवन्ति ॥

श्रमणव्रतों में स्थित वर्ष में एकबार एक भी प्राणी को घात करनेवाले पुरुष अपना अहित करते हैं—अनार्य हैं; केवल ज्ञानी ऐसे नहीं हो सकते हैं । ५४ ।

बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं, अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण ताई ।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं, आयाणवं धम्म-मुदाहरेज्जा ।५५।

। त्ति बेमि ।

ज्ञानीकी आज्ञा के अनुसार इस समाधि [समता--अहिंसा] को ग्रहण करके, उसमें अच्छी तरह से स्थित होकर, उसकी मन, वचन और काया से रक्षा करता हुआ, समुद्र के समान महा भव प्रवाह को पार करने के लिये, मोक्षके साधनों से युक्त पुरुष धर्मका उपदेश कर सकता है । ५५ ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

छठा अध्ययन समाप्त



सातवाँ अध्ययन

(नालन्दीय)

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था, रिद्धित्थिमिय-समिद्धे (वण्णओ) जाव पडिरूवे। तस्स णं रायगिहस्स नयरस्स बाहिरिया उत्तर-पुरत्थिमे। दिसीभाए, एत्थ णं नालन्दा नामं बाहिरिया होत्था, अणेग-भवण-सय-सन्निविट्ठा जाव पडिरूवा।

उस काल उस समय में ऋद्धि से समृद्ध राजगृह नाम का नगर था। उसके बाहर उत्तर-पूर्व में कई समृद्ध भवनों से सुशोभित नालन्दा नामक बाहिरिक (उपनगर) था।

तत्थ णं नालन्दाए बाहिरियाए लेवे नामं गाहावई होत्था, अड्ढे दित्ते वित्ते वित्थिण-विपुल-भवण-सयणासण जाण-वाहणाइण्णे बहुधण-बहु जायरूव-रजते आओग-पओग सम्पउत्ते विच्छड्डियपउर-भत्तपाणे बहु-दासी दास-गो-महिस गवेलगप्पभूए बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था।१।

उस नालन्दा बाहिरिक में लेप नामक एक गाथापति रहता था। वह आढ्य, दीप्त, और प्रसिद्ध था। उसके कई भवन शयनासन, यान और वाहन से भरपूर थे। वह बहुत धनिक, सोना और चाँदीवाला था। आय-व्यय में कुशल था। उसके यहाँ प्रचुर भात-पानी होता था। उसके पास

प्रभूत दास, दासी, गाय, महिष और भेड़ें थीं। वह बहुत से मनुष्यों के लिये अपरिभूत था।

से णं लेवे नामं गाहावई समणोवासए यावि होत्था, अभिगय-जीवाजीवे जाव विहरइ, निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्वितिगिच्छे लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगहियट्ठे अट्ठिमिञ्जा-पेमाणुरागरत्ते। अयमाउसो! निग्गन्थे पावयणे अयं अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे। उस्सिय फलिहे अप्पावय-दुवारे चियत्तन्तेउरप्पवेसे, चाउद सट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे, समणे निग्गन्थे तहाविहेणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणे, बहूहिं सीलव्वय-गुण-विरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणे एवं च णं विहरइ।२।

वह लेप गाथापति श्रमणोपासक था। वह जीव-अजीव के तत्त्व को जानता था। वह निर्ग्रन्थ-प्रवचन में शङ्का, काङ्क्षा और विचिकित्सा से रहित था। उसने निर्ग्रन्थ-प्रवचन के आशय को लब्ध, गृहीत, पृष्ठ, विनिश्चित और अभिगृहित कर लिया था। उसकी अस्थि-मज्जा में निर्ग्रन्थ-प्रवचन का प्रेमानुराग रम रहा था। वह यह समझता था कि निर्ग्रन्थ-प्रवचन ही अर्थ है—परमार्थ है और शेष सब अनर्थ है। दुःखियों के लिये उसके द्वार पर रोक-टोक नहीं थी-सदा खुले थे। वह किसी के अंतःपुर में प्रवेश नहीं करता था। वह

चतुर्दशी, अष्टमी और उद्दिष्ट-निर्दिष्ठ पूर्णिमा को प्रतिपू
पौषध का सम्यक् प्रकार से अनुपालन करता था। श्रमण
निर्ग्रन्थों को उनके योग्य एषणीय अशन, पान, खाद्य औ
स्वाद्यका दान करता था और अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, विर
णव्रत, प्रत्याख्यानव्रत और पौषध-उपवास से आत्म-भाव
बनी रहे-इसप्रकार से रहता था।

तस्स णं लेवस्स गाहावइस्स नालन्दाए बाहिरिय
उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए एत्थ णं सेसदविया नामं उदगसा
होत्था, अणेग-खम्भ-सयसन्निविट्ठा पासादीया जाव पडि
रूवा। तीसे णं सेसदवियाए उदगसालाए एत्थ णं हत्थि
जामे नामं वणसण्डे होत्था, किण्हे वण्णओ वणसण्डस्स।

नालन्दा उपनगर की उत्तर-पूर्व दिशा में, उस ले
गाथापति 'शेषद्रव्या' नामक उदकशाला (संभवतःस्नानगृह
थी, जो कि अनेक खम्भों से युक्त दर्शनीय थी। उस उद
शाला के उत्तर पूर्व में हस्तियाम नामक रमणीय उपवन था।

तस्सिं च णं गिहपदेसम्मि भगवं गोयमे विहर
भगवं च णं अहे आरामंसि। अहे णं उदए पेढालपुत्ते भग
पासावच्चिज्जे नियण्ठे मेयज्जे गोत्तेणं जेणेव भगवं गोय
तेणेव उवागच्छइ; उवागच्छइत्ता भगवं गोयमं एवं वयासी
आउसन्तो गोयमा! अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे
तं च आउसो अहासुयं अहादरिसियं मे वियागरेहि सवाय
भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी--अवियं

आउसो ! सोच्चा निसम्म जाणिस्सामो सवायं ।

उस उपवन की किसी गृह-प्रदेश में भगवान् गौतम ठहरे हुए थे। वे उस आराम के निचले भाग में विराजमान थे। उस समय भगवान् पार्श्व के सन्तानीय मेदार्य गोत्रीय उदय पेढालपुत्र नामक निर्ग्रन्थ जहाँ भगवान् गौतम विराजमान थे, वहाँ आया—आकर उनसे कहने लगा —आयुष्मान् गौतम ! आपसे मुझे कुछ पूछना है। आयुष्मान् ! आपने जैसा सुना हो, जैसा विश्वास किया हो वही कहना। भगवान् गौतम उदय पेढालपुत्र से बोले—अयुष्मान् ? यदि आपके प्रश्न को सुन-कर-समझकर जान लूँगा तो उत्तर दूँगा।

उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी ।४। आउसो गोयमा ? अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नाम समणा निग्गन्था, तुम्हाणं पवयणं पवयमाणा गाहावइं समणोवासगं उवसम्पन्नं एवं पच्चक्खावेन्ति— णण्णत्थ अभिओएणं गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय दण्डं-एवं ण्हं पच्चक्खत्ताणं दुप्पच्चक्खायं भवइ। एवं ण्हं पच्चक्खावेमाणाणं दुप्पच्चक्खावियव्वं भवइ। एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा अतियरन्ति सयं पतिण्णं।

कस्स णं तं हेउं ?

संसारिया खलु पाणा, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायन्ति, तसा पाणा थावरत्ताए पच्चायन्ति, थावर कायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जन्ति, तसका-

याओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जन्ति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं घत्तं ॥५॥

उदक पेढालपुत्र भगवान् गौतम से बोले--आयुष्मान् गौतम ? कुमार पुत्र नामके श्रमण निर्ग्रन्थ हैं–जो तुम्हारे प्रवचन के अनुयायी हैं--वे प्रत्याख्यान के लिये आये हुए श्रमणो--पासक गृहपतियों को यह प्रत्याख्यान कराते हैं कि अपने से गुरु (बली आदि) के अभियोग (=जबरन,) को छोड़कर, गाथा-पति-चोर-ग्रहण-विमोक्षण न्याय से त्रस-प्राणियों की हिंसा का त्याग है—यह प्रत्याख्यान करना और कराना दुष्प्रत्याख्यान है। ऐसे प्रत्याख्यान करने वाले अपनी प्रतिज्ञा नहीं पा सकते हैं।

इसका क्या कारण है ?

कारण यह है कि प्राणियों में परिवर्तन होता रहता है—स्थावर प्राणी स्थावर काया को छोड़कर, त्रस काया में त्रसरूप से उत्पन्न हो जाते हैं और त्रसप्राणी त्रसकाया को छोड़कर स्थावर काया में स्थावररूप से उत्पन्न हो जाते हैं—उनमें से स्थावर काया में उत्पन्न हुए त्रस प्राणियों की हिंसा, उन श्रमणोपासकों से हो जाती है।

एवं ण्हं पच्चक्खन्ताणं सुपच्चक्खायं भवइ। एवं ण्हं पच्चक्खावेमाणाणं सुपच्चक्खावियं भवइ। एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा नाइयरन्ति सयं पइण्णं। णण्णत्थ अभि--ओगेणं गाहावइ-चोर-ग्गहण-विमोक्खणयाए तसभूएहिं

भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामो त्ति वएज्जा ? हन्ता वएज्जा। किं ते तहप्पगारा कप्पन्ति पव्वावित्तए ? हन्ता कप्पन्ति। किं ते तहप्पगारा कप्पंति मुण्डावित्तए ? हन्ता कप्पन्ति। किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावित्तए ? हन्ता कप्पन्ति। किं ते तहप्पगारा कप्पन्ति उवट्ठावित्तए ? हन्ता कप्पन्ति। तेसिं च णं तहप्पगाराणं सव्वपाणेहिं जाव सव्व-सत्तेहिं दण्डे निक्खित्ते ? हन्ता निक्खित्ते। सेणं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउपञ्चमाइं छट्ठदसमाइं वा अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जेत्ता अगारं वएज्जा ? हन्ता वएज्जा तस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दण्डे नो निक्खित्ते ? णो इणट्ठे समट्ठे। से जे जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दण्डे नो निक्खित्ते। से जे से जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दण्डे निक्खित्ते। से जे से जीवे जस्स इयाणिं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहि दण्डे नो निक्खित्ते भवइ। परेणं असञ्जए आरेणं असञ्जए, इयाणिं असञ्जए, असञ्जयस्स णं सव्व-पाणेहिं जाव सत्तेहिं दण्डे नो निक्खित्ते भवइ। से एवमा-याणह, नियण्ठा ! एवमायाणियव्वं।

भगवान गौतम—जो निर्ग्रन्थ धर्म पृच्छा के योग्य हों--आयुष्मान निर्ग्रन्थ ! (उनके पास) गृहपति या गृहपति पुत्र इसप्रकार के कुल में आकर [=जन्म लेकर], धर्म सुनने आ सकते हैं ?

हाँ आ सकते हैं।

क्या उसप्रकार (के व्यक्तियों) को धर्म कहना चाहिए?

हाँ? कहना चाहिए।

क्या वे तथा प्रकार धर्म को सुनकर, समझकर, इस प्रकार कह सकते हैं कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य, अनुत्तर, केवल ज्ञानी से कथित, परिपूर्ण, संशुद्ध, नैयायिक=युक्ति युक्त, शल्यकर्त्तक=आत्मकण्टकों का नाशक, सिद्धमार्ग, मुक्ति-मार्ग, निर्याणमार्ग, निर्वाणमार्ग, अवितथ=मिथ्या भाव से रहित, असन्दिग्ध और सर्व दुःख-प्रहाणमार्ग है—जिसमें स्थित जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण पाते हैं और सभी दुःखों का अन्त करते हैं—ऐसे उस (निर्ग्रन्थ प्रवचन) की आज्ञा के अनुसार हम चलें, ठहरें, बैठें, सोयें, खाएँ, बोलें, सावधानी से रहें और उत्थान के लिये उठें—सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व के संयम से (अपने को) संयमित करें। क्या वे यह कह सकते हैं?

हाँ! कह सकते हैं?

क्या तथा प्रकार (व्यक्तियों) को दीक्षित, मुण्डित, शिक्षित और (मोक्षमार्ग में) उपस्थित कर सकते हैं?—हाँ! कर सकते हैं।

क्या वे सब जीवों की हिंसा से निवृत्त हो सकते हैं?

हाँ! हो सकते हैं।

यह सामर्थ्य नहीं है कि दीक्षित हो सकें, श्रावक के व्रत पाल सकें या संलेखना कर सकें। पर सामायिक व पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओं की प्रतिदिन मर्यादा करके, उसके बाहर के सब प्राणियों की हिंसा करना छोड़ देंगे और सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर क्षेम करने वाले होकर रहेंगे। यदि मर्यादित भूमिके अन्दर के त्रस जीव–जिनकी हिंसा करना श्रमणोपासकने जीवन भर के लिये छोड़ दी है–आयु पूर्ण करते हैं और आयु पूर्ण करके, मर्यादित भूमि के अन्दर ही त्रस रूप से उत्पन्न होते हैं, तो श्रमणोपासक का उनमें सुप्रत्याख्यान होता है (शेष पूर्ववत्)

तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणन्ताए दण्डे निक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहन्ति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जाव थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे निक्खित्ते तेसु पच्चायन्ति, तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दण्डे अणिक्खित्ते, अट्ठाए दण्डे निक्खित्ते, ते पाणा वि वुच्चन्ति ते तसा ते चिरट्ठिइया जाव अयंपि भेदे से ....

मर्यादित भूमि के अन्दर जो त्रस जीव हैं–जिनकी हिंसा करने का श्रमणोपासक ने जीवन भरके लिये त्याग कर दिया है–वे आयु पूर्ण करते हैं और काल करके उन स्थावर प्राणियों में उसी भूमि मे उत्पन्न होते हैं–जिनकी सप्रयोजन हिंसा का श्रमणोपासकने त्याग नहीं किया है और निष्प्रयोजन

हिंसा का त्याग किया है, अतः उनकी सप्रयोजन हिंसा उनके द्वारा होती है और निष्प्रयोजन हिंसा नहीं होती। उन (स्थावर प्राणियों) को......(त्रस भूत शब्द नहीं होने से) त्रस कहते हैं...यावत् यह कथन योग्य नहीं है।

तत्थ जे आरेणं तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आमरणन्ताए........(जाव) तओ आउं विप्पजहन्ति, विप्प-जहित्ता तत्थ परेणं जे तसा थावरा पाणा जेहिं समणो-वासगस्स आयाणसो आमरणन्ताए........तेसु पच्चायन्ति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि जाव अयं पि भेदे से........

मर्यादित भूमि के अन्दर के त्रस जीव... .मर्यादित भूमि के बाहर उत्पन्न हों....(शेष पूर्ववत्)

तत्थ जे आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दण्डे अनिक्खित्ते अणट्ठाए निक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहन्ति—विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणन्ताए........तेसु पच्चायन्ति, तेसु समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते पाणा वि जाव अयं पि भेदे से नो......

मर्यादि भूमि के अन्दर के जो स्थावर जीव हैं—जिनकी समणोपासक ने सप्रयोजन हिंसा नहीं, छोड़ी किन्तु निष्प्रयोजन हिंसा छोड़ी है—वे मर्यादित भूमि में त्रस रूप से उत्पन्न हों ...(शेष पूर्ववत्)

तत्थ जे ते आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणो-वासगस्स अट्ठाए दण्डे अनिक्खित्ते अणट्ठाए निक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहन्ति—विप्पजहित्ता ते तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दण्डे अ-निक्खित्ते अट्ठाए निक्खित्ते तेसु पच्चायन्ति, तेहिं समणोवा-सगस्स अट्ठाए अणट्ठाए, ते पाणा वि जाव अयं वि भेदे से नो....

मर्यादित भूमि के अन्दर के स्थावर प्राणी....मर कर वहीं स्थावर प्राणियों में उत्पन्न हों....[शेष पूर्ववत्]

तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा-जेहिं समणोवा-सगस्स अट्ठाए दण्डे अनिक्खित्ते अणट्ठाए निक्खित्ते तओ आउं विप्पजहन्ति विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणन्ताए...तेसु पच्चायन्ति तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते पाणा वि जाव अयं पि भेदे से णो नेयाउए भवइ।

मर्यादित भूमि के अन्दर के स्थावर प्राणी....उस भूमि के बाहर त्रस-स्थावर प्राणियों में....उत्पन्न होते हैं....

तत्थ जे ते परेणं तस थावरा पाणा-जेहिं समणो-वासगस्स आयाणसो आमरणन्ताए....ते तओ आउं विप्प-जहन्ति-विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे तसा पाणा—जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणन्ताए....तेसु पच्चायन्ति तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते पाणा वि जाव

अयं पि भेदे से नो नेयाउए भवइ ।

मर्यादित भूमि से बाहर जो त्रस-स्थावर प्राणी हैं–जिनकी हिंसा करने के समणोपासक के आमृत्यु त्याग हैं–वे जीव आयु समाप्त करते हैं और काल करके, मर्यादित भूमि के उन त्रस प्राणियों में उत्पन्न हो जाते हैं--जिनकी हिंसा मृत्यु पर्यन्त समणोपासक ने छोड़ दी है.... ...

जे ते परेणं तस थावरा पाणा--जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणन्ताए . ....ते तओ आउं विप्पजहन्ति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणो–वासगस्स अट्ठाए दण्डे अनिक्खित्ते अणट्ठाए निक्खित्ते–तेसु पच्चायन्ति, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए अनिक्खित्ते अणट्ठाए निक्खित्ते जाव ते पाणा वि जाव अयं पि भेदे से नो....

मर्यादित भूमि के बाहर के त्रस-स्थावर प्राणी....मर्यादित भूमि के अन्दर के स्थावर प्राणियों में....उत्पन्न हो जाते हैं--जिनकी सप्रयोजन नहीं, निष्प्रयोजन हिंसा का समणोपासक त्यागी है ।....

तत्थ जे ते परेणं तस थावरा पाणा जेहिं समणो-वासगस्स आयाणसो आमरणन्ताए....ते तओ आउं विप्प--जहन्ति–विप्पजहित्ता ते तत्थ परेणं चेव जे तस थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणन्ताए.... तेसु पच्चायन्ति, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ ।

कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोग-पलिमंथत्ताए चिट्ठइ; जे खलु समणं वा माहणं वा णो परिभासेइ-मित्ति मन्नन्ति आगमित्ता णाणं, आगमित्ता दंसणं, आगमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोग--विसुद्धीए चिट्ठइ। तएणं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूत्ते तामेव दिसिं पहारेत्थ गमणाए।

भगवं च णं उदाहु—आउसन्तो! उदगा जे खलु तहाभूतस्स समणस्स वा माहणस्स वा अन्तिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म, अप्पणो चेव सुहुमाए पडिलेहाए अणुत्तरं जोगखेमपयं लंभिए समाणे सो वि ताव तं आढाइ परिजाणेति वन्दति नमंसति सक्कारेइ जाव कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासति।

भगवान गौतम—आयुष्यमान उदक! जो श्रमण—ब्राह्मण की व्यर्थ निन्दा करते हैं, वे भले ही उनसे मैत्री रखते हों या पाप कमा को निःशेष करने के लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त हों तो भी उनका वह (कर्त्तव्य) परलोक को बिगाड़ने के लिये ही है और जो श्रमण--ब्राह्मण की व्यर्थ निन्दा नहीं करता है, उनसे मैत्री रखता है और पाप कर्मों के विनाश के लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त है—उनके (कर्त्तव्य) परलोक की विशुद्धि के लिये हैं।

इस [प्रकार सुनने] के बाद उदय पेढाल पुत्र भगवान गौतम का अनादर करते हुए, जहाँ से आया था वहीं